बुद्ध और महावीर

तथा दो भाषण

लेखक

किशोरलाल घ० मशरूवाला

अनुवादक

जमनालाल जैन

भारत जैन महामण्डल, वर्धा

श्री० धर्मानन्दजी कोसम्बी

तथा

पं० सुखलालजी संघवी

को

सविनय अर्पित

अनुक्रमाणिका

अनुवादक की ओर से

जी, अनुवादक का काम बहुत कठिन है। पर प्रेरणा, उत्साह और सहयोग मिलने पर कठिन और जटिल काम भी सहल बन जाते हैं। यह मेरा, मानता हूँ कि, पहला प्रयास है,—इसे साहस ही कह सकता हूँ। कितना सफल हुआ, यह बताना मेरा काम नहीं। मैंने अपनी प्रिय भाषा हिन्दी का भी कोई व्यवस्थित अध्ययन नहीं किया। गुजराती आदि भाषाओं का तो करता ही कहाँ से! फिर भी पूज्य रिषभदासजी रांका ने यह पुस्तक हाथ में थमा ही दी। पढ़ा, तो आनन्द आने लगा। यह स्वाभाविक भी था। श्रद्धेय मशरूवालाजी की संयत, विवेकपूर्ण विचार-सरणी से विचारक-वर्ग सुपरिचित है। बुद्ध और महावीर पर लिखी गई इस पुस्तक ने मुझे विशेष रूप से आकर्षित कर लिया। जो हो, श्री० रांकाजी की प्रेरणा से ही अब यह पुस्तक हिन्दी में पाठकों के हाथों में पहुँच रही है।

'जैन भारती' मासिक पत्रिका में 'महावीर' अंश का अनुवाद प्रकाशित हुआ था मुझे उससे बहुत सहायता मिली है। फिर भी अपनी रुचि के अनुसार भाषा सम्बन्धी संशोधन करना मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ। और फिर तो स्वयं मशरूवालाजी ने भी उसे देख लिया है। बुद्ध अंश उन्होंने नहीं देखा है।

उनके पर्यूषण और महावीर-जयंती पर दिए गए दो भाषण भी जोड़ना आवश्यक प्रतीत हुआ। कारण 'बुद्ध और महावीर' में महावीर पर, ऐसा लगा कि जो लिखा गया है, वह अधूरा-सा है. इसलिए यदि ये दो भाषण और जोड़ दिए जायँ तो महावीर को समझने के लिए पाठकों को कुछ और भी सामग्री मिल जायगी। पर यह भाषणों के अंश सब पाठकों को पढ़ने को नहीं मिलेंगे। जैन जगत के ग्राहकों को भेंट की जानेवाली प्रतियों में ये भाषण नहीं रहेंगे। जैन जगत ने सौ पृष्ठ देने का संकल्प किया था—और वह इन भाषणों के बिना पूर्ण हो जाते हैं। पाठक हमारी विवशता को क्षमा करें।

'अहिंसा के नए पहाड़े' सर्वोदय से लिया गया है और 'महावीर का जीवन-धर्म' के अनुवाद को स्वयं मशरूवालाजी ने देख लिया है। दोनों भाषण हमारी सामाजिक जीवन-चर्या पर मार्मिक प्रकाश डालते हैं। हम समझते हैं कि ये भाषण सामाजिक प्रवृत्तियों और धार्मिक तत्त्वोंके वर्तमान वैषम्य को बताकर हमारा उचित मार्ग-दर्शन कर सकते हैं।

पुस्तक की छपाई की कहानी करुण है। हम लज्जित हैं कि पुस्तक उचित समय पर पाठकों के हाथों में नहीं दी जा सकी। एक प्रेस, दूसरे प्रेस और तीसरे प्रेस इस तरह पुस्तक घूमती ही रही। हम राष्ट्रभाषा प्रेस के व्यवस्थापक के आभारी हैं कि पुस्तक उन्होंने छापकर दी।

श्रद्धेय मशरूवालाजी के हम विशेष कृतज्ञ हैं कि उन्होंने पुस्तक के प्रकाशन की अनुमति प्रदान की और स्वास्थ्य ठीक न होते हुए भी तथा अत्यन्त कार्य-व्यस्त होते हुए भी अनुवाद आदि को देखने का कष्ट उठाया। उनका आशीर्वाद इसी तरह हमेशा मिलता रहे, यही हमारी अभिलाषा है।

पुस्तक भारत जैन महामंडल के अन्तर्गत 'स्व० राजेन्द्र स्मृति ग्रंथ-माला' की ओर से प्रकाशित की जा रही है। यह ग्रंथ-माला पू० रिषभदास जी रांका के स्व० पुत्र राजेन्द्रकुमार की स्मृति में चल रही है। यह पुस्तक उनका तीसरा और चौथा पुष्प है। पुस्तक का प्रकाशन इसी दृष्टिकोण से किया गया है कि एक राष्ट्रीय विचारक व्यक्ति के हृदय में धार्मिक महापुरुषों के प्रति जो विचार हैं उनसे हिन्दी पाठक परिचित हो सकें। हम नहीं जानते पुस्तक में प्रतिपादित विचारों का परंपरा और रूढ़ि-प्रिय समाज में कितना स्वागत होगा। हम इतना ही अनुरोध कर सकते हैं कि पुस्तक का अवलोकन सद्भावनापूर्वक किया जाय।

प्रकाशक का आभार मानना दूसरे शब्दों में अपने मुँह से अपनी ही प्रशंसा करने-जैसा है। हाँ, उनका कृतज्ञ अवश्य हूँ जिनसे इस पुस्तक के पढ़ने, अनुवाद करने, छपाने आदि के बहाने अपने विकास के मार्ग में मुझे प्रेरणा और सहायता मिली है।

'जैन जगत' कार्यालय, वर्धा
श्रुत पंचमी, वीर सं० २४७६
२२ : ५ : '५०

—जमनालाल जैन

प्रस्तावना

हम हिन्दू मानते हैं कि जब पृथ्वी पर से धर्म का लोप हो जाता है, अधर्म बढ़ जाता है, असुरों के उपद्रव से समाज पीड़ित होता है, साधुता का तिरस्कार होता है, निर्बल का रक्षण नहीं होता, तब परमात्मा के अवतार प्रकट होते हैं। लेकिन अवतार किस तरह प्रकट होते हैं ? प्रकट होने पर उन्हें किन लक्षणों से पहचाना जाय और पहचान कर अथवा उनकी भक्ति कर अपने जीवन में कैसे परिवर्तन किया जाय, यह जानना आवश्यक है।

सर्वत्र एक परमात्मा की शक्ति-सत्ता ही कार्य कर रही है। हम सब में एक ही प्रभु व्याप्त है। उसी की शक्ति से सब की हलन-चलन होती है। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि में भी इसी परमात्मा की शक्ति थी। तब हममें और रामकृष्णादि में भी इसी परमात्मा की शक्ति थी। तब हममें और रामकृष्णादि में क्या अन्तर है ? वे भी हम जैसे ही मनुष्य दिखाई देते थे; उन्हें भी हम जैसे दुःख सहन करने पड़े थे और पुरुषार्थ करना पडा था; इस लिए हम उन्हें अवतार किस तरह कहें ? हजारों वर्ष बीतने पर अब हम क्यों उनकी पूजा करें ?

"आत्मा सत्य-काम सत्य-संकल्प है" यह वेद-वाक्य है। हम जो धारण करें, इच्छा करें, वह प्राप्त कर सकें, यह इसका अर्थ होता है। जिस शक्ति के कारण अपनी कामनाएँ सिद्ध होती हैं उसे ही हम परमात्मा, परमेश्वर, ब्रह्म कहते हैं। जान-अनजान में भी इसी परमात्मा की शक्ति का अवलंबन-शरण लेकर ही हमने आज की स्थिति प्राप्त की है और भविष्य की स्थिति भी शक्ति का अवलंबन लेकर प्राप्त करेंगे। रामकृष्ण ने इसी शक्ति का अवलंबन लेकर पूजा के योग्य पद को प्राप्त किया था और बाद में भी मनुष्य जाति में जो पूजा के पात्र होंगे, वे भी इसी शक्ति का अवलंबन लेकर ही। हममें और उनमें इतना ही अन्तर है कि हम मूढ़तापूर्वक, अज्ञानतापूर्वक इस शक्ति का उपयोग करते हैं और उन्होंने बुद्धिपूर्वक उसका आलंबन किया है।

दूसरा अन्तर यह है कि हम अपनी क्षुद्र वासनाओंको तृप्त करने में परमात्म-शक्ति का उपयोग करते हैं। महापुरुष की आकांक्षाएँ, उनके आशय महान् और उदार होते हैं। उन्हींके लिए वे आत्म-बल का आश्रय लेते हैं।

तीसरा अन्तर यह है कि सामान्य जन-समाज महापुरुषों के वचनों का अनुसरण करनेवाला और उनके आश्रय से तथा उनके प्रति श्रद्धा से अपना उद्धार माननेवाला होता है। प्राचीन शास्त्र ही उनके आधार होते हैं। महापुरुष केवल शास्त्रों का अनुसरण करनेवाले ही नहीं; वे शास्त्रों की रचना करनेवाले और बदलनेवाले भी

होते हैं। उनके वचन ही शास्त्र होते हैं और उनका आचरण ही दूसरों के लिए दीप-स्तंभ के समान होता है। उन्होंने परमतत्त्व जान लिया है, उन्होंने अपना अंतःकरण शुद्ध किया है। ऐसे सज्ञान, सविवेक और शुद्ध चित्त को जो विचार सूझते हैं, जो आचरण योग्य लगता है वही सत्-शास्त्र, वही सद्धर्म है। दूसरे कोई भी शास्त्र उन्हें बाँध नहीं सकते अथवा उनके निर्णय में अन्तर नहीं डाल सकते।

अपने आशयों को उदार बनाने पर, अपनी आकांक्षाओं को उच्च बनाने पर और प्रभु की शक्ति का ज्ञानपूर्वक अवलंबन लेने पर हम और अवतार गिने जानेवाले पुरुष तत्त्वतः भिन्न नहीं रहते। बिजली की शक्ति घर में लगी हुई है; उसका उपयोग हम एक क्षुद्र घंटी बजाने में कर सकते हैं, और वह बड़े-बड़े दीपोंकी पंक्ति से सारे घर को प्रकाशित भी कर सकती हैं। इसी प्रकार परमतत्त्व हमारे प्रत्येक के हृदय में विराज रहा है, उसकी सत्ता से हम एक क्षुद्र वासना की तृप्ति कर सकते हैं अथवा महान् और चरित्रवान् बन संसार से तिर सकते हैं और दूसरों को तारने में सहायक हो सकते हैं।

महापुरुष अपनी रग-रग में परमात्मा के बल का अनुभव करते हुए पवित्र होने, पराक्रमी होने, पर-दुःख-भंजक होने की आकांक्षा रखते हैं। उन्होंने इस बल द्वारा सुख-दुःख से परे करुण-हृदय, वैराग्यवान, ज्ञानवान और प्राणि-मात्र के मित्र होने की

इच्छा की। स्वार्थ-त्याग से, इन्द्रिय-जय से, मनो-संयम से, चित्त की पवित्रता से, करुणा की अतिशयता से, प्राणि-मात्र के प्रति अत्यंत प्रेम से दूसरों के दुःखों का नाश करने में अपनी सारी शक्ति अर्पण करनेके लिए निरंतर तत्परता से, अपनी अत्यंत कर्तव्यपरायणता से, निष्कामता से, अनासक्ति से और निरहंकारीपन से गुरुजनों की सेवा कर उनके कृपापात्र होने से वे मनुष्य-मात्र के लिए पूजनीय हुए।

चाहें तो हम भी ऐसे पवित्र हो सकते हैं, इतने कर्तव्य-परायण हो सकते हैं, इतनी करुणावृत्ति प्राप्त कर सकते हैं, इतने निष्काम, अनासक्त और निरहंकारी हो सकते हैं। ऐसे बनने का हमारा निरंतर प्रयत्न रहे, यही उनकी उपासना करने का हेतु है। ऐसा कह सकते हैं कि जितने अंशों में हम उनके समान बनते हैं, उतने अंशों में हम उनके समीप पहुँच जाते हैं। यदि हमारा उनके जैसे बनने का प्रयत्न नहीं हो तो हमारे द्वारा किया गया उनका नामस्मरण भी वृथा है और इस नाम-स्मरण से उनके समीप पहुँचने की आशा रखना भी व्यर्थ है।

यह जीवन-परिचय पढ़कर पाठक महापुरुषों की पूजा ही करता रहे, इतना ही पर्याप्त नहीं है। उनकी महत्ता किसलिए है यह परखने की शक्ति प्राप्त हो और उन-जैसे बनने में प्रयत्नशील हो, तो ही इस पुस्तक के पढ़ने का श्रम सफल माना जायगा।

इन संक्षिप्त चरित्रों की यथार्थ उपयोगिता कितनी है ? इतिहास, पुराण अथवा बौद्ध, जैन, ईसाई शास्त्रों का सूक्ष्म अभ्यास कर चिकित्सक वृत्ति से मैंने कोई नया संशोधन किया है, यह नहीं कहा जा सकता। इसके लिए पाठकों को श्री चिंतामणि विनायक वैद्य अथवा श्री बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय आदि की विद्वत्तापूर्ण पुस्तकोंका अभ्यास करना चाहिए। फिर चरित्र-नायकों के प्रति असाम्प्रदायिक दृष्टि रखकर नित्य के धार्मिक पठन-पाठन में उपयोगी हो सकेगी, ऐसी शैली या विस्तार से सारे चरित्र लिखे हुए नहीं हैं। ऐसी पुस्तक की जरूरत है, यह मैं मानता हूँ; लेकिन यह कार्य हाथ दे लेने के लिए जैसा अभ्यास चाहिए उसके लिए मैं समय या शक्ति में सकूँगा, यह संभव मालूम नहीं होता।

मनुष्य स्वभाव से ही किसी की पूजा किया करता है। कइयों को देव मानकर पूजता है, तो कइयों को मनुष्य समझकर पूजता है। जिन्हें देव मानकर पूजता है, उन्हें अपने से भिन्न जाति का समझता है; जिन्हें मनुष्य समझकर पूजता है उन्हें वह अपने से छोटा-बड़ा आदर्श समझकर पूजता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा आदि को भिन्न-भिन्न प्रजा के लोग देव बनाकर—अमानव बनाकर पूजते आए हैं। उन्हें आदर्श मान उन-जैसे होने की इच्छा रख प्रयत्न कर, अपना अभ्युदय न साध उनका नामोच्चारण कर, उनमें उद्धारक शक्तिका आरोपण कर, उनमें विश्वास

रख अपना अभ्युदय साधना ही आज तक की हमारी रीति रही है। यह रीति न्यूनाधिक अंधश्रद्धा यानी बुद्धि न दौड़े वहीं तक ही नहीं परंतु बुद्धि का विरोध करनेवाली श्रद्धा की भी है। विचार के आगे यह टिक नहीं सकती।

भिन्न-भिन्न महापुरुषों में यह दैव-भाव अधिक दृढ़ करने का प्रयत्न ही सब सम्प्रदायों के आचार्यों, साधुओं, पंडितों आदि के जीवन-कार्य का इतिहास हो गया है। इनमें से चमत्कारों की, भूतकाल में हुई भविष्य-वाणियों की और भविष्यकाल के लिए की हुई और खरी उतरी आगाहियों की आख्यायिकाएँ रची हुई हैं और उनका विस्तार इतना अधिक बढ़ गया है कि जीवन-चरित्र में से नब्बे प्रतिशत या उससे अधिक पृष्ठ इन्हीं बातों से भरे होते हैं। इन बातों का सामान्य जनता के मन पर ऐसा परिणाम हुआ है कि मनुष्य में रही हुई पवित्रता, लोकोत्तरशील-संपन्नता, दया आदि साधु और वीर पुरुष के गुणों के कारण उनकी कीमत वह आँक नहीं सकती, लेकिन चमत्कार की अपेक्षा रखती है और चमत्कार करने की शक्ति वह महा-पुरुष का आवश्यक लक्षण मानती है। शिला से अहिल्या करनेकी, गोवर्धन को कनिष्ठ उँगली पर उठाने की, सूर्य को आकाश में रोक रखने की, पानी परसे चलने की, हजारों मनुष्यों को एक टोकनी भर रोटीसे भोजन कराने की, मरने के बाद जीवित होने की आदि आदि प्रत्येक महा-पुरुषके चरित्र में आनेवाली बातों के रचयिताओंने जनता को इस तरह मिथ्या दृष्टि-बिंदु की

ओर झुका दिया है। ऐसे चमत्कार करके बताने की शक्ति साध्य हो तो उसीसे किसी मनुष्य को महापुरुष कहलाने लायक नहीं समझना चाहिए। महापुरुषों की चमत्कार करने की शक्ति या 'अरेबियन नाइटस्' जैसी पुस्तकों में मिलनेवाली जादूगरों की शक्ति इन दोनों का मूल्य मनुष्यता की दृष्टि से समान ही है। ऐसी शक्ति होनेसे कोई पूजाका-पात्र नहीं होना चाहिए। राम ने शिला से अहिल्या की अथवा पानी पर पत्थर तिराए, यह बात निकाल डालिए, कृष्ण केवल मानवी शक्ति से ही अपना जीवन जीए ऐसा कहना चाहिए। ईसा ने एक भी चमत्कार नहीं बताया था ऐसा मानना चाहिए, फिर भी राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा आदि पुरुष मानव जाति के क्यों पूजा-पात्र हैं, इस दृष्टि से यह चरित्र लिखने का प्रयत्न है। कइयों को संभव है कि यह न रुचेगा, लेकिन यही यथार्थ दृष्टि है। यह मेरा विश्वास है; और इस लिए इस पद्धति को न छोड़ने का मेरा आग्रह है।

महापुरुषों को देखने का यह दृष्टि-बिंदु जिनको मान्य है उनके लिए ही यह पुस्तक है।

अन्त में एक बात और लिखना आवश्यक है। इसमें जो कुछ नया है वह पहले मुझे सूझा है, ऐसा नहीं कह सकता। मेरे जीवन के ध्येय में और उपासना के दृष्टि-बिंदु में परिवर्तन करनेवाले, मुझे अंधकार से प्रकाश में ले जानेवाले अपने पुण्य-पाद गुरुदेव का

मैं ऋणी हूँ। इसमें जो त्रुटियाँ हों उन्हें मेरे ही विचार और ग्रहणशक्ति की समझें।

बुद्ध देव के चरित्र के लिए श्री धर्मानंद कौसंबी की 'बुद्धलीला सार संग्रह' और 'बुद्ध, धर्म अने संघ' पुस्तकों का ऋणी हूँ। महावीर की वस्तु अधिकांशतः हेमचंद्राचार्य कृत 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष' के आधार पर लिखी गई है।

गुजराती प्रस्तावना से]　　　　　— कि० घ० मशरूवाला

महाभिनिष्क्रमण

१. जन्म :

[1] निरंतर जलती हुई अग्निमें कैसा आनंद और हास्य!
अंधकार में भटकने वालो, भला दीपक क्यों नहीं खोजते

लगभग पच्चीससौ वर्ष पूर्व हिमालय की तलहटीमें चंपारण्यके उत्तरमें, नेपालकी तराई में कपिलवस्तु नामक एक नगरी थी। [2]शाक्य कुलके क्षत्रियोंका वहां एक छोटासा महाजनसत्ताक राज्य था। शुद्धोदन नामक एक शाक्य उसका अध्यक्ष था। उसे राजा कहा जाता था। शुद्धोदनका विवाह गौतमवंश की मायावती और महाप्रजापति नामक दो बहनोंसे हुआ था। मायावतीको एक पुत्र हुआ, लेकिन प्रसव के सात दिन बाद ही उसका स्वर्गवास हो गया। शिशुके पालन का भार महाप्रजापति पर आ गया। उसने शिशुका पालन अपने पुत्रकी तरह किया। उस बालकने भी उसे अपनी सगी माँके समान समझा। इस बालक का नाम सिद्धार्थ था।

---

१. को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेन ओनद्धो (?) पदीपं न गवेसथ॥

२. इसी कारण बुद्ध शाक्य और गौतम मुनिके नामसे भी प्रसिद्ध हैं।

२. सुखोपभोग :

शुद्धोदनने सिद्धार्थका बहुत लाड़-प्यारसे पालन किया। राजकुमारको उसके उपयुक्त शिक्षा दी गई, लेकिन साथ-ही-साथ संसारके विलासों की पूर्ति में भी किसी तरह कमी नहीं रखी गई। य शो ध रा नामक गुणवान कन्याके साथ उसका विवाह हुआ और उनके राहुल नामक पुत्र पैदा हुआ। अपने भोगोंका वर्णन सिद्धार्थने इस प्रकार किया है :

"मैं बहुत सुकुमार था। मेरे लिए पिताने तालाब खुदवाकर उसमें विविध प्रकारकी कमलिनियां लगाई थीं। मेरे वस्त्र रेशमी होते थे। शीत और उष्णता का असर न होने देने के लिए मेरे सेवक मुझ पर श्वेत छत्र लगाए रहते। ठंडी, गर्मा और वर्षा ऋतुमें रहने के लिए अलग अलग तीन महल थे। जब मैं वर्षा के लिए बनाए हुए महल में रहने के लिए जाता, तब चार महीने तक बाहर न निकल, स्त्रियोंके गीत और वाद्य सुनते हुए समय बिताता। दूसरों के यहां सेवकोंको हलका भोजन मिलता था, लेकिन मेरे यहां दास-दासियों को अच्छे भोजनके साथ भात भी मिला करता था।

३. विवेक बुद्धि :

इस प्रकार सिद्धार्थ की जवानी बीत रही थी। लेकिन इतने ऐश-आराम में भी सिद्धार्थका चित्त स्थिर था। बचपन से ही वह विचार-शील और एकाग्र-चित्त रहता था। जो दृष्टिमें पड़ता उसका बारीकीसे निरीक्षण करना और उसपर गंभीर विचार करना उनका सहज-स्वभाव था। सदैव विचार-शील रहे बिना किस पुरुष को महत्ता प्राप्त हो सकती है? और कौन-सा ऐसा तुच्छ प्रसंग हो सकता है जो विचारक पुरुषके जीवनमें अद्भुत परिवर्तन करनेमें समर्थ न हो[१]

१. पिछली टिप्पणी देखिए।

४. विचार :

सिद्धार्थ केवल यौवनका उपभोग ही नहीं कर रहा था, बल्कि यौवन क्या है ? उसके आरंभमें क्या है ? उसके अन्तमें क्या है ? इसका भी विचार करता था। इतना ही नहीं कि वह केवल ऐश-आराम करता था, बल्कि ऐश-आराम क्या है ? उसमें सुख कितना है ? दुख कितना है ? ऐसे भोगका काल कितना है ? इसका भी विचार करता था। वह कहता है :

"इस सम्पत्तिका उपभोग करते-करते, मेरे मनमें विचार आया कि सामान्य अज्ञ मनुष्य स्वयं बुढ़ापेके झपट्टेमें आनेवाला है, फिर भी उसे बूढ़े आदमी को देख ग्लानि होती है और उसका तिरस्कार करता है ! लेकिन मैं स्वयं बुढ़ापेके जालमें फंसने वाला हूं इसलिए सामान्य मनुष्यकी तरह जरा-ग्रस्त मनुष्यकी ग्लानि करना या उसका तिरस्कार कना मुझे शोभा नहीं देता। इस विचारके कारण मेरा यौवनका मद जड़ मूलसे जाता रहा।

"सामान्य अज्ञ मनुष्य स्वयं व्याधिके झपट्टेमें आनेवाला है, फिर भी व्याधि-ग्रस्त मनुष्य को देख उसे ग्लानि होती है और उसका तिरस्कार करता है। लेकिन मैं स्वयं व्याधिके झपट्टे से नहीं छूट सका; इसलिये व्याधि-ग्रस्त से ग्लानि करना या उसका तिरस्कार करना मुझे शोभा नहीं देता। इस विचारसे मेरा आरोग्य मद जाता रहा।

"सामान्य अज्ञ मनुष्य स्वयं मृत्युको प्राप्त होनेवाला है, फिर भी वह मृत देहको देख ग्लानि करता है और उसका तिरस्कार करता है। लेकिन मेरी भी तो मृत्यु होगी, इसलिए सामान्य मनुष्य की तरह मृत-शरीरको देख ग्लानि करना और उसका तिरस्कार करना मुझे शोभा नहीं देता। इस विचारसे मेरा आयु-मद बिलकुल नष्ट हो गया।"[१]

---

१ 'बुद्ध, धर्म और संघ'के आधारसे। सिद्धार्थको बूढ़े, रोगी, शव और संन्यासी के अनुक्रमसे अचानक दर्शन होनेसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह रातोंरात घर छोड़कर एक दिन निकल गया। ऐसी कथा प्रचलित है। ये कथाएँ कल्पित मालूम होती हैं। देखो ऊपरकी पुस्तकमें कोसंबीजीका विवेचन।

५. मोक्षकी जिज्ञासा :

जिनके पास घर, गाड़ी, घोड़े, पशु, धन, स्त्री, पुत्र, दास-दासी आदि हों, वे इस संसार में सुखी माने जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि मनुष्य का सुख इन वस्तुओं के आधार पर है; लेकिन सिद्धार्थ विचार करने लगा :

"मैं स्वयं जरा-धर्मी, व्याधि-धर्मी, मृत्यु-धर्मी, शोक-धर्मी होते हुए जरा, व्याधि, मृत्यु और शोकसे संबंध रखनेवाली वस्तुओंको अपने सुखका आधार मान बैठा हूं। यह ठीक नहीं।" जो स्वयं दुःख-रहित नहीं, उससे दूसरोंको सुख कैसे मिल सकेगा? इसलिए जिसमें जरा, व्याधि, मृत्यु या शोक न हो, ऐसी वस्तुकी खोज करना उचित है। और उसीका आश्रय लेना चाहिए।

६. वैराग्यकी वृत्ति :

इस विचारमें पड़नेवाले को संसार के सुखोंमें क्या रस रहेगा? जो सुख नाशवान् है, जिनका भोग एक क्षण बाद ही केवल भूतकालकी स्मृति रूप हो रहता है, जो बुढापा रोग और मृत्युको निकट से निकट खींच लाते हैं, जिनका वियोग शोक उत्पन्न करता है, ऐसे सुख और भोगसे सिद्धार्थ का मन उदास होगया। किसीके घरमें कोई प्रिय व्यक्ति दीपावलीके दिन ही मरनेकी स्थितिमें पड़ा हो उसे उस दिन क्या पक्वान्न प्रिय लगेंगे? क्या उसकी इच्छा रातको दीपवालीकी रोशनी देखने जानेकी होगी? इसी तरह सिद्धार्थको देहके जरा, व्याधि और मृत्युसे होनेवाले आवश्यक रूपांतरको क्षण-क्षणमें देखकर, सुखोपभोगसे ग्लानि होगई। वह जहां-तहां इन वस्तुओंको नजदीक आती हुई देखने लगा; और अपने आप्त-इष्टों, दास-दासियों आदिको इस सुखके ही पीछे पड़े देख उसका हृदय करुणासे भरने लगा। लोग ऐसे जड़ कैसे बन गये? विचार क्यों नहीं करते? ऐसे तुच्छ सुखके लिए आतुर कैसे होते हैं? आदि विचार उसे

होने लगे। लेकिन ये विचार कब कहे जा सकते हैं? इस सुखके स्थान पर दूसरा कोई अविनाशी सुख बता सकने पर ही यह बात करना उचित है। ऐसे सुखकी खोज करने से छुटकारा हो सकता है। निजी हितके लिए यही सुख प्राप्त करना चाहिए और प्रियजनोंका सच्चा हित् करना हो तो भी अविनाशी सुख की ही खोज करनी चाहिए।

७. महाभिनिष्क्रमण :

आगे चलकर वह कहता है कि "ऐसे विचारोंमें कितना ही समय जानेके बाद, जब कि मैं उनतीस वर्षका तरुण था, मेरा एक भी बाल सफेद नहीं हुआ था और माता पिता मुझे इजाजत नहीं दे रहे थे; आंखोंसे निकलते अश्रुप्रवाहसे उनके गाल गीले हो गए थे और वे एक सरीखे रोते थे, तब भी मैं शिरो-मुंडनकर, भगवा वेश धारण कर घरसे निकल ही गया।[१]

८. सिद्धार्थ की करुणा :

यों सगे-संबंधी माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदिको छोड़नेमें सिद्धार्थ कोई निष्ठुर नहीं था। उसका हृदय तो पारिजातकसे भी कोमल हो गया था। प्राणी-मात्र की ओर प्रेम-भावसे निहारता था। उसे ऐसा लगा कि यादि जीना हो तो जगतके कल्याणके लिए ही जीना चाहिए। केवल स्वयं मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छासे ही वह गृह-त्याग के लिए प्रेरित नहीं हुआ था। लेकिन जगतमें दुःख निवारण का कोई उपाय है या नहीं, इसकी शोध आवश्यक थी। और, इसके लिए जिन्हें मिथ्या बताया गया है, ऐसे सुखोंका त्याग न करना तो मोह ही माना जावेगा। ऐसा विचार कर सिद्धार्थने संन्यास-धर्म स्वीकार कर लिया।

---

१. बुद्ध, धर्म और संघसे

तपश्चर्या

अप्रज्ञको नहीं ध्यान, न प्रज्ञा ध्यान-हीन को ।
जो है प्रज्ञा व ध्यान-युक्त, निर्वाण उसके पासमें ॥[1]

१. भिक्षा वृत्ति :

गृह त्याग कर सिद्धार्थ दूर निकल गया । चमारसे लेकर ब्राह्मण तक सब जातिके लोगोंसे प्राप्त भिक्षाको एक पात्रमें जमा कर वह खाने लगा । पहले पहल ऐसा करना उसे बड़ा ही कठिन लगा; लेकिन उसने विचार किया, "अरे जीव, तुझे किसीने संन्यास लेनेके लिए जबरदस्ती नहीं की थी । राजी खुशीसे ही तूने यह वेश लिया है; अब तुझे यह भिक्षान्न खानेमें क्यों ग्लानि होती है ? मनुष्य-मनुष्यके बीच भेद-भावको देख तेरा हृदय भर आता था । परंतु अब स्वयं पर हीन जातिके व्यक्तिका अन्न खानेका प्रसंग आने पर तेरे मनमें इन लोगोंके विषयमें अनुकम्पा न आकर ग्लानि क्यों होती है ? सिद्धार्थ, छोड़दे इस दुर्बलता को ! सुगंधित भातमें और हीन लोगों द्वारा लिए हुए इस अन्नमें तुझे भेद-भाव नहीं करना चाहिए । इस स्थितिको प्राप्त करनेपर ही तेरी प्रव्रज्या सफल होगी । " इस प्रकार अपने मनको बोध दे विषम-दृष्टिके संस्कारोंका सिद्धार्थने दृढ़ता पूर्वक त्याग किया ।[2]

२. गुरुकी शोध : कालाम मुनिके यहाँ :

अब वह आत्यंतिक सुखका मार्ग बतानेवाले गुरुकी शोधमें लगा । पहले वह काला म नामक योगीका शिष्य होगया । उसने पहले सिद्धार्थको

---

१. नत्थि झानं अपञ्ञस्स पञ्ञा नत्थि अज्झायतो ।
आमि झानं च पञ्ञा च सवे निब्बान सन्तिके ॥—(धम्मपद)

२. देखो पीछेकी टिप्पणी

अपने सिध्दांत सिखलाए। सिध्दार्थ उन्हें सीख गया। और, इस विषयमें वह इतना कुशल होगया कि किसीके कुछ पूछने पर वह उनका बराबर उत्तर दे सकता था तथा उनके साथ चर्चा भी कर सकता था कालाम के बहुत से शिष्य इस प्रकार कुशल पंडित हुए थे। लेकिन सिध्दार्थ को इतने से संतोष नहीं हुआ। उसे किसी अमुक सिध्दांतपर वाद-विवाद करनेकी शक्तिकी आवश्यकता नहीं थी। उसे तो दुःखका निवारण करनेकी औषधि चाहिए थी।

वह केवल वाद-विवादसे कैसे मिलती! इसलिए उसने अपने गुरुसे विनय-पूर्वक कहा "मुझे केवल आपके सिद्धांतोंका ज्ञान नहीं चाहिए था, लेकिन जिस रीतिसे ये सिध्दांत अनुभवमें आ सकें, वह रीति सिखाइए। इससे कालाम मुनिने सिध्दार्थको अपना समाधि-मार्ग बताया। इस मार्गकी सात भूमिकाएँ थीं। सिध्दार्थने उन सात भूमिकाओंको जल्दीही सिद्ध कर लिया। बादमें उसने गुरुसे कहा: "अब इसके आगे?" लेकिन कालामने कहा "भाई मैं इतनाही जानता हूं। मैंने जितना जाना है उतना तुमने भी जान लिया है, इसलिए तुम और मैं अब समान होगए हैं। अतः अब हम दोनोंको मिलकर मेरे इस मार्गका प्रचार करना चाहिए।" ऐसा कह उसने सिद्धार्थका बहुत सन्मान किया।

३. असंतोष:

लेकिन इतने से सिद्धार्थको संतोष हुआ नहीं। उसने विचार किया: "इस समाधि से कुछ समय तक दुःखके कारणोंको दबाकर रखा जा सकता है; लेकिन उनका जड़-मूलसे उच्छेद नहीं होता, इसलिए मोक्षका मार्ग जैसा गुरु कहते हैं, उससे कुछ भिन्न होना चाहिए।

४. फिरसे शोध : उद्रक मुनिके यहाँ :

वह कालामका आश्रम छोड़ उद्रक नामक दूसरे योगीके यहाँ गया। उसने सिद्धार्थको समाधिकी आठवीं भूमिका सिखाई। सिद्धार्थने इसे भी सिध्द कर लिया। इससे उद्रकने उसका अपने समान हो जाने से बहुत सन्मान किया।

५. पुनः असंतोष :

लेकिन सिध्दार्थको अब भी संतोष नहीं हुआ। इससे भी दुःख रूप वृत्तियोंको कुछ काल तक दबाया जा सकता है, लेकिन उनका जड़-मूलसे नाश तो नहीं ही होता।

६. निजी प्रयत्न :

सिध्दार्थको लगा कि अब सुखके मार्गको निजी प्रयत्नसे शोधना चाहिए। यह विचार कर वह फिरते-फिरते गयाके पास उरुवेल ग्राममें आया।

७. देह-दमन :

वहां उसने तप करनेका निश्चय किया। उस समय ऐसा माना जाता था कि उग्र रूपसे शरीरका दमन ही तप है। इस प्रदेशमें बहुतसे तपस्वी रहते थे। उन सबकी रीतिके अनुसार सिध्दार्थने भी भारी तप शुरू किया। शीतकालमें ठंडी, ग्रीष्मकालमें गर्मी और वर्षा कालमें बरसातकी धाराएं सहन कर उपवासकर उसने शरीरको अत्यंत कृश कर डाला। घंटों तक श्वासोच्छ्वास रोक वह काठकी तरह ध्यानस्थ बैठा रहता। इससे उसके पेटमें भयंकर वेदना और शरीरमें दाह होती। उसका शरीर केवल हड्डियोंका ढांचा रह गया। आखिर उसमें उठनेकी भी शक्ति न रही और एक दिन तो वह मूर्च्छा खाकर गिर पड़ा। तब एक ग्वालने दूध पिलाकर उसे सचेत किया। लेकिन इतना कष्ट उठाने पर भी उसे शांति न मिली।

८. अन्नग्रहण :

सिद्धार्थ ने देहदमन का पूरा अनुभव करनेपर देखा कि केवल देहदमन से कोई लाभ नही। यदि सत्य का मार्ग खोजना हो तो वह शरीर की शक्ति का नाश करके नही मिल सकेगा, ऐसा उसे लगा। इसलिए उसने फिर से अन्नग्रहण करना शुरू कर दिया। सिद्धार्थ की उग्र तपश्चर्या से कितने ही तपस्वी उसके शिष्य के समान हो गए थे। सिद्धार्थ को अन्नग्रहण करते देख बुद्ध के प्रति उनमे निरादर पैदा हुआ। सिद्धार्थ योगभ्रष्ट हो गया, मोक्ष के लिए अयोग्य हो गया, आदि विचार कर उन्होने उसका त्याग कर दिया। लेकिन सिद्धार्थ मे लोगो मे केवल अच्छा कहलाने की लालसा नही थी। उसे तो सत्य और सुख की शोध करनी थी। इस बारे मे उसके संबध में दूसरो के अभिप्राय बदलेंगे, इस विचार से उसे जो मार्ग भूल भरा लगा उससे वह कैसे चिपट सकता था?

९. बोधप्राप्ति :

इस प्रकार सिद्धार्थ को राज्य छोड़ छः वर्ष बीत गए। विषयों की इच्छा, कामादि विकार, खाने-पीने की तृष्णा, आलस, कुशंका, अभिमान, कीर्ति की लालसा, आत्मस्तुति, परनिंदा आदि अनेक प्रकार की चित्त की आसुरी वृत्तियों के साथ उसे इन वर्षों मे झगड़ना पड़ा। ऐसे विकार ही मनुष्य के बड़े से-बड़े शत्रु है इसका उसे पूरा विश्वास हो गया। अन्त मे इन सब विकारो को जीत कर उसने चित्त की अत्यंत शुद्धि की। जब चित्त की परिपूर्ण शुद्धि हो गई तब उसके हृदय में ज्ञान का प्रकाश हुआ। जन्म और मृत्यु क्या है? सुख और दुःख क्या है? दुःख का नाश होता है या

नहीं ? होता है तो किस तरह ? यह सब बातें प्रत्यक्ष हो गईं। शंकाओं का निराकरण हो गया। अशांति के स्थान पर शांति हो गई। सिद्धार्थ अज्ञान निद्रा से जागकर 'बुद्ध' हो गए। वैशाख सुदी १५ के दिन उन्हें प्रथम ज्ञान-स्फुरण हुआ। इसलिए इस दिन बुद्ध-जयंती मनाई जाती है। बहुत दिन तक उन्होंने घूम-घूमकर अपने स्फुरित ज्ञान पर विचार किया। जब सारे संशयों का निराकरण हो गया, प्राप्त ज्ञान की उन्हें यथार्थता प्रतीत हो गई तब स्वयं शोधित सत्य प्रकट कर अपने भगीरथ प्रयत्नों का लाभ जगत् को देने के लिए उन्हें उनकी संसार-सम्बन्धी और कारुण्य भावनाओं ने प्रेरित किया।[१]

---

१. बौद्ध ग्रंथों में लिखा है कि ब्रह्मदेव ने उन्हें जगदुद्धार के लिए प्रेरित किया। लेकिन मैत्री, करुणा, प्रमोद (पुण्यवान लोगों को देख आनंद और पूज्यता की वृत्ति) उपेक्षा (हठपूर्वक पाप में रहने-वालों के प्रति) इन चार भावनाओं को ही बुद्धधर्म में 'ब्रह्मविहार' कहा है। इस रूपक को छोड़ कर सरल भाषा में ही ऊपर समझाया है। चतुर्मुख ब्रह्मदेव की कल्पना को वैदिक ग्रन्थों में अनेक प्रकार से समझाया है, उसी तरह यह दूसरी रीति है। सरल वस्तु को सीधे ढंग से न कह कवि रूपक में कहते हैं। कालान्तर में रूपक का अर्थ दब जाता है, सामान्य जन रूपक को ही सत्य मानकर पूजा करते हैं और नए कवि अपनी कल्पना से ऐसे रूपकों का अपनी रुचि के अनुसार अर्थ करते हैं। फिर भी वे रूपक को नहीं छोड़ते और रूपक को रूपक के रूप में पूजना भी नहीं छोड़ते। मुझमें काव्य प्रतिभा की

कमी है, यह आरोप स्वीकार कर भी मुझे कहना चाहिए, अथवा मुझे परोक्ष पूजा रुचती नहीं। अनेक भोले लोगों को भ्रम में डालने का यह सीधा रास्ता है। इस प्रत्यक्ष भौतिक माया की अपेक्षा शास्त्रीय और कवियों की वाङ्माया (शब्द-माया) बहुत विकट होती है।

सम्प्रदाय

मार्ग अष्टांगिक श्रेष्ठ अरु सत्य के चार पद।
धर्मों में श्रेष्ठ वैराग्य, ज्ञानी श्रेष्ठ द्विपादों में ॥
वाणी का नित्य संयम, मन से भी संयमी होवे।
पाप न संचरे देह में वह पावे ऋषिमार्ग को।[१]

१. प्रारंभिक शिष्य :

अपनी तपश्चर्या के समय में बुद्ध अनेक तपस्वियों के संसर्ग में आए थे। वे सब सुख की शोध में शरीर को अनेक प्रकार से कष्ट दे देह-दमन कर रहे थे। बुद्ध को यह क्रिया भूलभरी लगी। वहाँ से उन्होंने उन तपस्वियों में से कइयों को स्वयम् को प्राप्त हुआ सत्य का उपदेश किया। इनमें से जिन ब्राह्मणों ने अन्न खाना शुरू करने पर बुद्ध का त्याग किया था वे उनके पहले शिष्य हुए।

---

१. मग्गानठङ्गिको सेठ्ठो सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सठ्ठो धम्मानं द्विपदानं च चक्खुमा ॥
वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो
कायेन च अपुसलं न कयिरा।
एते तयो कम्मपथे विसोधये
आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं ॥ (धम्मपद)

२. सम्प्रदाय का विस्तार :

बुद्ध का स्वभाव ऐसा नहीं था कि जो शांति उन्हें प्राप्त हुई थी, उसका वे अकेले ही उपभोग करें। अपने साढ़े तीन हाथ के देह को सुखी करने को ही उन्होंने इतना प्रयास नहीं किया था। इससे उन्होंने जितने वेग से सत्य की शोध के लिए राज्य का त्याग किया उतने ही वेग से उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना शुरू किया। देखते-देखते हजारों मनुष्यों ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। कितने ही मुमुक्षु उनका उपदेश सुन संसार का त्याग कर उनके भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हुए। इनके सम्प्रदाय या संघ में ऊँच-नीच, गरीब-अमीर का भेद-भाव नहीं था। वर्ण और कुल के अभिमान से वे परे थे। मगध के राजा बिंबिसार, उनके पिता शुद्धोदन, कौसल के राजा पसेनाद तथा अनाथपिंडिक आदि धनिकों ने जिस तरह उनका धर्म स्वीकार किया था, उसी तरह उपालि नाई, चुन्द लुहार, अंबपाली वेश्या आदि पिछड़ी जातियों में से भी उनके प्रमुख शिष्य थे। स्त्रियाँ भी उनका उपदेश सुन भिक्षुणी होने को प्रेरित हुईं। पहले तो स्त्रियों को भिक्षुणी बनाने को बुद्ध तैयार नहीं थे, लेकिन उनकी माता गौतमी और पत्नी यशोधरा ने भिक्षुणी होने की आतुरता प्रकट की और उनके आग्रह के वश होकर उन्हें भी भिक्षुणी होने की आज्ञा बुद्ध को देनी पड़ी।

३. समाज-स्थिति[1] :

बुद्ध के समय में मध्यम-वर्ग के लोगों की मनोदशा नीचे लिखे अनुसार हो गई थी, ऐसा लगता है :

---

१. देखो पिछली टीप्पणी नं. ४

एक वर्ग ऐहिक सुखों में लिप्त रहता था। मद्यपान और विलास में ही यह वर्ग जीवन की सार्थकता समझता था। दूसरा एक वर्ग ऐहिक सुखों की कुछ अवगणना करता, लेकिन स्वर्ग में उन्हीं सुखों को प्राप्त करने की लालसा से मूक प्राणियों का बलिदान कर उन्हें देवों के पास पहुँचाने के काम में लगा हुआ था। तीसरा एक वर्ग इससे उलटे ही मार्गपर जा शरीर का अंत होने तक दमन करने में फँसा था।

४. मध्यम मार्ग :

इन तीनों मार्गों में अज्ञान है, ऐसा बुद्ध ने समझाया। संसार और स्वर्ग के सुख की तृष्णा तथा देह-दमन से स्वयं का नाश करने की तृष्णा और दोनों सिरे की इच्छाओं को त्याग कर मध्यम मार्ग का उन्होंने उपदेश किया। इस मध्यम मार्ग से दुःखों का नाश होता है, ऐसा उनका मत था।

५. आर्य सत्य :

मध्यम मार्ग यानी चार आर्य सत्यों का ज्ञान। वे चार आर्य सत्य इस प्रकार हैं :

१.जन्म, जरा, व्याधि, मरण, अनिष्ट-संयोग और इष्ट-वियोग ये पाँच दुःख रूपी पेड़ की शाखाएँ हैं। ये पाँचों दुःख रूप हैं अर्थात् अनिवार्य हैं। ये अपनी इच्छा के अधीन नहीं हैं। इन्हें सहन करने-पर ही छुटकारा है। यह पहला आर्य सत्य है।

२. इनके सिवा दूसरे सब दुःख स्वयं मनुष्य के उत्पन्न किए हुए हैं। संसार के सुखों की तृष्णा, स्वर्ग के सुखों की तृष्णा और आत्मनाश की तृष्णा ये-तीन प्रकार की तृष्णाएँ पहले के दुःखों को फिर से उत्पन्न करने में तथा दूसरे सब दुःखों के कारण हैं। इन तृष्णाओं से प्रेरित हो मनुष्य पापाचरण करता है। अपने को तथा जगत् को दुःखी करता है। तृष्णा दुःखों का कारण है, यह दूसरा आर्य सत्य है।

३. इन तृष्णाओं का निरोध हो सकता है। इन तीन तृष्णाओं को निर्मूल करने से ही मोक्षप्राप्ति होती है। यह तीसरा आर्य सत्य है।

४. तृष्णाओं का निधरो कर दुःखों का नाश करने के साधन के नीचे मुजब आठ अंग हैं:

१--सम्यक् ज्ञान--चार आर्य सत्यों को सब दृष्टियों से विचार कर जानना।

२--सम्यक् संकल्प--शुभ कार्य करने का ही निश्चय।

३--सम्यक् वाचा--सत्य, प्रिय और हितकर वाणी।

४--सम्यक् कर्म--सत्कर्म में ही प्रवृत्ति।

५--सम्यक् आजीविका--प्रामाणिक रूप से ही आजीविका चलाने के लिए उद्यम।

६--सम्यक् प्रयत्न--कुशल पुरुषार्थ।

७—सम्यक् स्मृति—मैं क्या करता हूँ ? क्या बोलता हूँ ? क्या विचार करता हूँ ? इसका निरंतर भान।

८ सम्यक् समाधि[१]—अपने कर्म में एकाग्रता। अपने निश्चय में एकाग्रता, अपने पुरुषार्थ में एकाग्रता और अपनी भावना में एकाग्रता।[२]

यह अष्टांग मार्ग बुद्ध का चौथा आर्य सत्य है।

९. बौद्ध शरण-त्रय :

जो बुद्ध को मार्ग-दर्शक के रूप में स्वीकार करे उनके उपदेश किए हुए धर्म को ग्रहण करे और उनके भिक्षु-संघ का संत्सग करे, वह बौद्ध कहलाता है :

बुध्दं शरणं गच्छामि।
धर्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

इन तीन शरणों की प्रतिज्ञा लेने पर बुद्ध धर्म में प्रवेश होता है।[३]

---

१ सम्यक्—यानी यथार्थ अथवा शुभ

२ भावना में एकाग्रता यानी कभी मैत्री, कभी द्वेष, कभी अहिंसा, कभी हिंसा, कभी ज्ञान, कभी अज्ञान, कभी वैराग्य, कभी विषयों की इच्छा आदि नहीं, बल्कि निरंतर मैत्री, अहिंसा, ज्ञान, वैराग्य में स्थिति यह समाधि है। देखो, गीता अध्याय १३ श्लोक ८ से ११; ज्ञान के लक्षण।

३ देखो पिछली टिप्पणी ५ वीं।

७. बुद्ध धर्म :

चार आर्यसत्य में मनुष्य की अपनी न्यूनाधिक शक्ति के अनुसार मन, कर्म, वचन से निष्ठा हो और अष्टांग-मार्ग की साधना करते-करते वह बुद्ध-दशा को प्राप्त हो, इस हेतु के अनुकूल पड़ने-वाली रीति से बुद्ध ने धर्म का उपदेश किया है। उन्होंने शिष्यों के तीन भेद किए हैं : गृहस्थ, उपासक और भिक्षु।

८. गृहस्थ-धर्म :

गृहस्थ को नीचे की पांच अशुभ प्रवृत्तियों से दूर रहना चाहिए :

[१] प्राणियों की हिंसा [२] चोरी [३] व्यभिचार [४] असत्य [५] शराब आदि का व्यसन।

उसे नीचे की शुभ प्रवृत्तियों में तत्पर रहना चाहिए :

[१] सत्संग [२] गुरु, माता-पिता और कुटुम्ब की सेवा [३] पुण्यमार्ग से द्रव्य संचय [४] मन की सन्मार्ग में दृढ़ता [५] विद्या और कला की प्राप्ति [६] समयोचित सत्य, प्रिय और हितकर भाषण [७] व्यवस्थितता [८] दान [९] संबंधियों पर उपकार [१०] धर्माचरण [११] नम्रता, संतोष, कृतज्ञता और सहिष्णुता आदि गुणोंकी प्राप्ति और अन्त में [१२] तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य आदि के मार्गपर चल चार आर्यसत्यों का साक्षात्कार कर मोक्ष की प्राप्ति।

९. उपासक का धर्म :

उपासक को गृहस्थ-धर्म के उपरान्त महीने में चार दिन निम्नलिखित व्रतों का पालन करना चाहिए :

[१] ब्रह्मचर्य [२] मध्याह्न के बाद भोजन न करना [३] नृत्य, गीत, पुष्प इत्यादि विलास का त्याग [४] ऊँचे और मोटे बिछौनों का त्याग। इस व्रत को उपोसथ कहते हैं।

१०. भिक्षुके धर्म :

भिक्षु दो प्रकार के हैं : श्रामणेर और भिक्षु। बीस वर्ष के भीतरवाले श्रामणेर कहलाते हैं। ये किसी भिक्षु के हाथ के नीचे ही रहते हैं। भिक्षु में और अिनमें इतना ही अन्तर है।

भिक्षा पर जीवन-निर्वाह की, वृक्षों के नीचे रहने की, फटे कपड़े जमा कर उनसे शरीर ढंकने की और बिना औषधादि के रहने की भिक्षु की तैयारी चाहिए। अुसे चाँदी-सोने का त्याग करना चाहिए और निरंतर चित्त के दमन का अभ्यास करना चाहिए।[1]

---

१ भर्तृहरि कृत नीचे के श्लोक में सदाचार के जो नियम हैं वे मानों बौद्ध नियमों का ही संकलित रूप है :—

प्राणाघातान्निवृत्तिः[1] परधन हरणे संयमः[2] सत्यवाक्यं[3]
काले शक्त्या प्रदानं[4] युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्[5]
तृष्णा स्रोतो विभंगो[6] गुरुषुच विनयः[7] सर्वभूतानुकम्पा[8]
सामान्यः सर्व शास्त्र स्वनुपकृतविधिः श्रेयसामेषपन्थाः ॥

११. सम्प्रदाय की विशेषता :

बुद्ध के सम्प्रदाय की विशेषता यह है कि सामान्य नीति-प्रिय मनुष्य की बुद्धि में उतर सके, उन्हीं विषयों पर श्रद्धा रखने को वे कहते हैं।

अपने ही बल से बुद्धि में सत्य के समान प्रतीत न हो ऐसे कोई चमत्कार, सिद्धांत, विधियों या व्रतों में वे श्रद्धा रखने को नहीं कहते। किसी कल्पना या वादपर अपने सम्प्रदाय की नींव उन्होंने नहीं डाली; किन्तु जैसे सब सम्प्रदायों में होता है उसी सत्य की अपेक्षा से सम्प्रदाय का विस्तार करने की अिच्छावाले लोगों ने पीछे से ये सब बातें बुद्ध-धर्म में मिला दी हैं, यह सच है।

हिन्दू और जैन धर्म की तरह बौद्धधर्म भी पुनर्जन्म की मान्यता पर खड़ा हुआ है। अनेक जन्मतक प्रयत्न करते-करते कोई भी जीव बुद्ध-दशा को प्राप्त कर सकता है। बुद्ध होने की इच्छा से जो जीव प्रयत्न करता है उसे बोधिसत्व कहते हैं। प्रयत्न करने की पद्धति इस प्रकार है :

बुद्ध होनेके पहले अनेक महागुणों को सिद्ध करना पड़ता है। बुद्ध में अहिंसा, करुणा, दया, अुदारता, ज्ञानयोग तथा कर्म की कुशलता, शौर्य, पराक्रम, तेज, क्षमादि सभी श्रेष्ठ गुणों का विकास हुआ रहता है। जब तक एकाध सद्‌गुण की भी कमी होती है तब तक बुद्ध-दशा प्राप्त नहीं होती। यहाँ तक कि तब तक उसमें पूर्ण ज्ञान नहीं होता; वासनाओं पर विजय नहीं होती, मोह का नाश नहीं होता। एक ही जन्म में वह इन सब गुणों का विकास नहीं

कर सकता, लेकिन बुद्ध होने की इच्छावाला साधक एक-एक जन्म में एक-एक गुण में पारंगतता प्राप्त करे तो जन्मांतर में वह बुद्ध होने की योग्यता प्राप्त कर सकता है। गौतम बुद्ध ने इसी पद्धति से अनेक जन्म तक साधना कर बुद्धत्व प्राप्त किया था, ऐसा बौद्ध मानते हैं। यह बात उस धर्म के अनुयायियों के मनपर जमाने के लिए एक बोधिसत्व की कल्पना कर उसके जन्मजन्मांतर की कथाएँ गढ़ दी गईं हैं। अर्थात् ये कथाएँ कवियों की कल्पनाएँ हैं। लेकिन साधक के मन पर जमें, इस प्रकार गढ़ी हुई हैं। इन कथाओं को जातक कथाएँ कहते हैं। सामान्य-जन इन कथाओं को बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाओं के रूप में मानते हैं। लेकिन यह भोली मान्यता है। फिर भी इनमें से कुछ कथाएँ बहुत बोध-प्रद हैं।

उपदेश

'पाप न आचरो एक, रहो सन्मार्ग में दृढ़ ।
स्वचित्त सदा शोधिए, यह है शासन बुद्धों का ॥'[1]

१. आत्मप्रतीति ही प्रमाण है :

चारित्र्य, चित्तशुद्धि और दैवी सम्पत्ति का विकास ये बुद्ध के उपदेशों में सूत्र रूप से पिरोए गए हैं। लेकिन इस समर्थन में वे स्वर्ग का लोभ, नरक का भय, ब्रह्म का आनन्द, जन्म-मरण का दुख, भवसागर में उद्धार या कोई भी दूसरी आशा या भय देना या दिखाना नहीं चाहते। वे किसी शास्त्र का आधार भी नहीं देना चाहते। शास्त्र, स्वर्ग, नर्क आत्मा, जन्म-मरण आदि इन्हें मान्य नहीं, ऐसी बात नहीं है, लेकिन इनपर बुद्ध ने अपना उपदेश नहीं किया, इन बातों को जो कहना चाहता है उसका महत्व स्वयं सिद्ध है, और अपने विचारों से समझ में आने जैसी हैं, ऐसा उनका अभिप्राय मालूम होता है। वे कहते हैं :

"मनुष्यो, मैं जो कुछ कहता हूँ वह परंपरागत है, ऐसा समझ उसे सच न मान लो। अपनी पूर्व परंपरा के अनुसार है यह

---

१ सव्व पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धानुसासनं ॥—(धम्मपद)

समझ कर भी सच न मान लो। ऐसा होनेवाला है, यह समझकर भी सच न मान लो। लौकिक न्याय समझकर भी सच न मान लो। सुन्दर लगता है इसलिए भी सच न मान लो। प्रसिद्ध साधु हूँ, पूज्य हूँ, यह समझकर भी सच न मान लो। तुम्हें अपनी विवेक-बुद्धि मेरा उपदेश सच लगे तो ही तुम इसे स्वीकार करो।"

२. दिशा-वन्दन :

उस समय कितने ही लोग ऐसा नियम पालते थे कि प्रातः काल स्नान कर पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व और अधो इन छः दिशाओं का वन्दन किया करते। बुद्ध ने छः दिशा इस प्रकार बताई हैं :

स्नान कर पवित्र होना ही पर्याप्त नहीं है। छः दिशाओंको नमस्कार करनेवाले को नीचे लिखी चौदह बातों का त्याग करना चाहिए :

१. प्राणघात, चोरी, व्यभिचार, असत्य-भाषण ये चार दुखरूप कर्म,

२. स्वच्छंदता, द्वेष, भय और मोह ये चार पाप के कारण और

३. मद्यपान, रात्रिभ्रमण, खेल-तमाशे, व्यसन, जुआ, कुसंगति और आलस--ये छः सम्पत्ति नाश के द्वार।

इस प्रकार पवित्र हो, माता-पिता को पूर्व दिशा समझ उनकी पूजा करना। यानी उनका काम और पोषण करना, कुल में चले आए

सत्कार्यों को चालू रखना, उनकी संपत्ति का योग्य विभाजन करना और मरे हुए हिस्सेदारों के हिस्से का दान-धर्म करना।

गुरु को दक्षिण दिशा समझ उनके आने पर खड़े होना, बीमारी में शुश्रूषा करना, पढ़ाते समय श्रद्धापूर्वक समझना, प्रसंग आने पर उनका काम करना और उनकी दी हुई विद्या की प्रतिष्ठा रखना, यह दक्षिण दिशा की पूजा करना है।

पश्चिम दिशा स्त्री को समझना चाहिये। उसका मान रखने से, अपमान न होने देने से, पत्नीव्रत के पालन से, घर का कारोबार उसे सौंपने से और आवश्यक वस्त्रादि की पूर्ति करने से उसकी पूजा होती है।

उत्तर दिशा यानी मित्रवर्ग और सगे-संबंधी। उन्हें योग्य वस्तुएँ भेंट करने से, मधुर व्यवहार रखने से, उनके उपयोग में आने से, उनके साथ समानता का बर्ताव करने से, और निष्कपट व्यवहार से उत्तर दिशा ठीक तरह पूजी जाती है।

अधोदिशा का वन्दन सेवक को शक्ति-प्रमाण ही काम सौंपने से, योग्य और समय पर वेतन देने से, बीमारी में शुश्रूषा करने से और अच्छा भोजन तथा प्रसंगोपात्त इनाम देने से होता है।

ऊर्ध्वदिशा की पूजा साधु-संतों का मन, वचन और काया से आदर करने से, भिक्षा में बाधा न डालने से और योग्य वस्तु के दान से होती है।

इस तरह दिशा का पूजन अपना और जगत् का कल्याण करनेवाला नहीं है, ऐसा कौन कहेगा ?

३. दस पाप :

प्राणघात, चोरी और व्यभिचार ये तीन शारीरिक पाप हैं। असत्य, चुगली, गाली और बकवाद ये चार वाचिक पाप हैं, और परधन की इच्छा, दूसरे के नाश की इच्छा तथा सत्य, अहिंसा, दया दान आदि में अश्रद्धा ये तीन मानसिक पाप हैं।

४. उपासथ व्रत :

उपासथ व्रत करनेवाले को उस दिन इस प्रकार विचार करना चाहिए :

"आज मैं प्राणघात से दूर रहा हूँ।[1] प्राणिमात्र के प्रति मेरे मन में दया उत्पन्न हुई है, प्रेम उत्पन्न हुआ है। मैं आज चोरी से दूर रहनेवाला हूँ, जिनपर मेरा अधिकार नहीं, ऐसा कुछ लेना नहीं

१. बुद्ध के काल में मांसाहार का सामान्य प्रचार था। आज भी बिहार की तरफ वैष्णवों के सिवा दूसरे सब मांसाहारी हैं; और वैष्णवों में भी ऐसा नहीं लगता की सब में मच्छी त्याज्य है। बुद्ध और बौद्ध भिक्षु (कदाचित् प्रारंभ के जैन भिक्षु भी) शाकाहरी ही थे, इसका प्रमाण नहीं मिलता। निरामिष भोजन ही करनेवाला वर्ग देश में धीरे-धीरे उत्पन्न हुआ है। और उसकी शुरूआत जैनों से हुई है।

है और इस तरह मैंने अपने मन को पवित्र किया है। आज ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा; आज मैंने असत्य भाषण का त्याग किया है; आज से मैंने सत्य बोलने का निश्चय किया है; इससे लोगों को मेरे शब्दों पर विश्वास होगा। मैंने सब प्रकार के मादक पदार्थों का त्याग किया है; समयबाह्य भोजन का त्याग किया है; मध्याह्न के पूर्व एक ही बार मुझे भोजन करना है। आज नृत्य गीत, वाद्य, माला, गंध, आभूषण आदि का त्याग रखूँगा। आज मैं एकदम सादी शय्या पर शयन करूँगा। ये आठ नियम पालकर मैं महात्मा बुद्ध पुरुष का अनुकरण करनेवाला हो रहा हूँ।"

५. सात प्रकार की पत्नियाँ :

बधिक, चोर, सेठ, माता, बहिन, मित्र और दासी ऐसी सात प्रकार की पत्नियाँ होती हैं। जिसके अन्तःकरण में पतिके प्रति प्रेम नहीं होता, जिसे पैसा ही प्यारा होता है वह स्त्री बधिक यानी हिंसक की तरह है। जो पति के पैसे में से चोरी करके अलग से धन जमा करती है वह चोर की तरह है। जो काम नहीं करती लेकिन बहुत खानेवाली है; पति को गाली देने में कसर नहीं रखती और पति के परिश्रम की इज्जत नहीं करती वह सेठके समान है। जो पत्नी एकमात्र पुत्र के समान पति की सँभाल रखती और संपत्ति की रक्षा करती है वह माता के समान है। छोटी बहन की तरह पति का जो आदर करती है और उसके अनुकूल चलती है वह बहन के समान है। जैसे कोई मित्र लंबे समय के बाद मिलता है वैसे ही पति को देखकर जो अत्यंत हर्षित हो जाती है ऐसी

कुलीन और शीलवती पत्नी मित्र के समान है। बहुत चिढ़ाने पर भी जो नहीं चिढ़ती, पति के प्रति जो कुविचार भी मन में नहीं लाती, वह पत्नी दासी के समान है।

६. सब वर्णोंकी समानता :

बुद्ध वर्ण के अभिमान को नहीं मानते थे। सब वर्णों को मोक्ष का अधिकार है। वर्ण का श्रेष्ठत्व प्रमाणित करने का कोई स्वतः सिद्ध आधार नहीं है। यदि क्षत्रिय आदि पाप करें तो वे नरक में जावें और ब्राह्मण आदि पाप करें तो वे न जावें? यदि ब्राह्मण आदि पुण्य कर्म करें तो वे स्वर्ग में जावें और क्षत्रिय आदि करे तो न जावें? ब्राह्मण रागद्वेषादि रहित हो, मित्र भावना कर सकें और क्षत्रिय आदि न कर सकें? इन सब विषयों में चारों वर्णोंका समान अधिकार है, यह स्पष्ट है।[1] फिर एक ब्राह्मण निरक्षर हो और दूसरा विद्वान हो तो यज्ञ आदि में पहले किसको आमंत्रित किया जायगा? आप कहेंगे कि विद्वान् को तो विद्वत्ता ही पूजनीय हुई, जाति नहीं।

लेकिन जो विद्वान् ब्राह्मण शीलरहित दुराचारी हो और निरक्षर ब्राह्मण अत्यंत शीलवान हो तो किसे पूज्य मानोगे? उत्तर स्पष्ट है कि शीलवान को।

लेकिन इस तरह जाति की अपेक्षा विद्वत्ता श्रेष्ठ ठहरती है

१. तुलना कीजिए :

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, निष्काम-क्रोध-लोभता।
सर्व-भूत हित इच्छा—यह धर्म है सब वर्णों का॥
(संस्कृत साहित्यपर से)

और विद्वत्ता की अपेक्षा शील श्रेष्ठ ठहरता है और उत्तम शील तो सब वर्णों के मनुष्य प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए यह सिद्ध होता है कि जिसका शील उत्तम है वही सब वर्णों में श्रेष्ठ है।

बुद्ध भगवान् ब्राह्मण की व्याख्या करते हैं : "संसार के संपूर्ण बंधनों को छेदकर, संसार के दुखों से जो नहीं डरता, जिसकी किसी भी वस्तु पर आसक्ति नहीं है, दूसरे मारें, गाली दें, बंधन में डालने पर उसे सहन करते हैं, क्षमा ही जिनका बल है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ, कमल के पत्तेपर गिरी हुई बूँदों के समान जो संसार के विषय-सुख से अलिप्त रहता है उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।"[1]

७. श्रेष्ठ यज्ञ :

मनोरंजक और उपयुक्त, बुद्धि में उतरे ऐसे दृष्टांत और कारणों से उपदेश करने की बुद्ध की पद्धति अनुपम थी। इनका एक ही दृष्टांत यहाँ देना है :

बुद्ध के समय में यज्ञ में प्राणियों का वध करने का रिवाज बहुत प्रचलित था। यज्ञ में होनेवाली हिंसा को बंद करने का आन्दोलन हिन्दुस्तान में बुद्ध के समय से चला आ रहा है। एक बार कूटदंत नामक एक ब्राह्मण इस विषय में बुद्ध के साथ चर्चा करने के लिए आया। उसने बुद्ध से पूछा—"यज्ञ क्या है और उसकी विधि क्या है?"

---

१. देखो पिछली टिप्पणी छठवीं

बुद्ध बोले—"प्राचीन काल में महाविजित नामक एक बड़ा राजा हो गया है। उसने एक दिन विचार किया कि मेरे पास बहुत संपत्ति है। एकाध महायज्ञ करने में उसका व्यय करूँ तो मुझे बहुत पुण्य होगा।' उसने यह विचार अपने पुरोहित से कहा।

पुरोहित ने कहा—"महाराज, इस समय अपने राज्य में शांति नहीं है। ग्रामों और शहरों में लूट-पाट मची है, लोगों को चोरों का बहुत त्रास है। ऐसी स्थिति में लोगों पर (यज्ञ के लिए) कर बिठाकर आप कर्तव्य से विमुख होंगे। कदाचित् आप यह समझें कि डाकुओं और चोरों को पकड़कर फाँसी देने से, कैद करने से अथवा देश से निकाल देने से शांति स्थापित हो सकेगी लेकिन यह भूल है। इस तरह राज्य की अन्धाधुन्धी का नाश नहीं होगा; क्यों कि इस उपाय से जो पकड़में नहीं आवेंगे वे फिर से उपद्रव करेंगे।"

"अब मैं इस तूफ़ान को मिटाने का सच्चा उपाय कहता हूँ: अपने राज्य में जो लोग खेती करना चाहते हैं, उनको आप बीज आदि दें। जो व्यापार करना चाहते हैं उन्हें पूँजी दें। जो सरकारी नौकरी करना चाहते हैं उन्हें योग्य काम और उचित वेतन पर नियुक्त करें। इस तरह सब लोगों को योग्य काम मिलने से वे तूफान नहीं मचावेंगे, समय पर कर मिलने से आपकी तिजोरी भरेगी, लूटपाट का भय न रहने पर लोग बालबच्चों की इच्छा पूरी कर, दरवाजे खुले रख आनंद से सो सकेंगे।"

राजा को पुरोहित का विचार बहुत अच्छा लगा। उसने तुरंत ही इस प्रकार व्यवस्था कर दी। जिससे थोड़े ही समय में राज्य में समृद्धि बढ़ गई। लोग अत्यंत आनंद से रहने लगे।"

"इसके बाद राजाने पुरोहित को बुलाकर कहा—'पुरोहितजी, अब मेरी महायज्ञ करने की इच्छा है, इसलिए मुझे योग्य सलाह दीजिए।"

"पुरोहित ने कहा—"महायज्ञ करने के पहले आपको प्रजा की अनुमति लेना उचित है। इसलिए स्थान-स्थान पर विज्ञप्तियाँ चिपकाकर प्रजा की सम्मति प्राप्त कीजिए।"

पुरोहित की सूचनानुसार राजा ने विज्ञाप्तियाँ चिपकवा प्रजा से अपना अभिप्राय निर्भयता पूर्वक और स्पष्ट रूप से प्रकट करने को कहा। सबने अनुकूल मत दिया।

तब पुरोहित ने यज्ञ की तैयारी कर राजा से कहा-"महाराज, यज्ञ करते समय मेरा कितना धन खर्च होगा ऐसा विचार भी आप को मन में नहीं लाना चाहिए। यज्ञ होते समय बहुत खर्च होता है यह विचार नहीं करना चाहिए। यज्ञ पूरा होनेपर बहुत खर्च हो गया यह विचार भी नहीं होना चाहिए।

"आपके यज्ञ में अच्छे-बुरे सब प्रकार के लोग आवेंगे, लेकिन केवल सत्पुरुषों पर ही दृष्टि रख आपको यज्ञ करना चाहिए और चित्त को प्रसन्न रखना चाहिए।"

"इस राजा के यज्ञ में गाय, बकरे, मेंढे इत्यादि प्राणी मारे नहीं गए। वृक्षों को उखाड़कर उनके स्तंभ नहीं रोपे गए। नौकरों और मजदूरों से बेगार नहीं की गई। जिनकी इच्छा हुई उन्होंने काम किया। जो नहीं चाहते थे उन्होंने नहीं किया। घी, तेल, दही, मधु और गुड़ इतने ही पदार्थों से यज्ञ पूरा किया गया।

"उसके बाद राज्य के श्रीमंत लोग बड़े-बड़े नजराने लेकर आए। लेकिन राजा ने उनसे कहा—"गृहस्थो, मुझे आपका नजराना नहीं चाहिए। धार्मिक कर से एकत्रित हुआ मेरे पास बहुत धन है। उसमें से आपको जो कुछ आवश्यक हो वह खुशी से ले जाइए।

"इस प्रकार राजा के नजराना स्वीकार न करने पर उन लोगों ने अन्धे-लूले आदि अनाथ लोगों के लिए महाविजित की यज्ञशाला के आसपास चारों दिशा में धर्मशालाएँ बनवाने में और गरीबों को दान देने में वह द्रव्य खर्च किया।"

यह बात सुन कूटदंत और दूसरे ब्राह्मण बोले—"बहुत सुन्दर यज्ञ! बहुत सुन्दर यज्ञ!!"

बाद में बुद्ध ने कूटदंत को अपने धर्म का उपदेश किया। सुनकर वह बुद्ध का उपासक हो गया और बोला, "आज मैं सात सौ बैल, सात सौ बछड़े, सात सौ बछड़ियाँ, सात सौ बकरे और सात सौ मेंढों को यज्ञ स्तंभ से छोड़ देता हूँ। मैं उन्हें जीवनदान देता हूँ। ताजा घास खाकर और ठंडा पानी पीकर शीतल हवा में वे आनंद से विचरण करें।"

८ राज्य समृद्धि के नियम :

एक बार राजा अजातशत्रु ने अपने मंत्री को बुद्ध के पास भेजकर कहलाया कि, " मैं वैशाली के वज्जियों पर आक्रमण करना चाहता हूँ। इसलिए इस विषयपर अपना अभिप्राय दें। "

यह सुन बुद्ध ने अपने शिष्य आनंद की ओर मुड़कर पूछा, " आनंद, वज्जिगण बारबार एकत्रित होकर क्या राजकारण का विचार करते हैं ? "

आनंद : " हाँ भगवन्। "

बुद्ध : " क्या इन लोगों में जमा होकर लौटने के समय तक भी एकता स्थिर रहती है ? "

आनंद : " ऐसा सुना तो है। "

बुद्ध : " ये लोग अपने कानूनों का भंग तो नहीं करते न ? अथवा कानूनों का चाहे जैसा अर्थ तो नहीं करते न ? "

अनंद : " जी, नहीं। ये लोग बहुत नियम पूर्वक चलनेवाले हैं, ऐसा मैंने सुना है।"

बुद्ध : " वृद्ध राजनीतिज्ञों को सम्मान देकर वज्जिगण क्या उनकी सलाह लेते हैं ? "

आनंद : "जी हाँ; वे उनका बहुत मान रखते हैं। "

बुद्ध : "ये लोग अपनी विवाहिता या अविवाहिता स्त्रियोंपर अत्याचार तो नहीं करते न ?"

आनंद : "जी, नहीं, वहाँ स्त्रियों की बहुत प्रतिष्ठा है।"

बुद्ध : "वज्जिगण नगर के अथवा नगर के बाहर के देवालयों की क्या सार सम्हाल करते है ?"

आनंद : "हाँ भगवन्।"

बुद्ध : "क्या वे लोग संतपुरुषों का आदर करते हैं ?"

आनंद : "जी हाँ।"

यह सुन बुद्ध ने मंत्री से कहा : "मैंने वैशाली के लोगों को यह सात नियम दिए थे। जबतक इन नियमों का पालन होता है तबतक उनकी समृद्धि ही होगी, अवनति हो नहीं सकती।" मंत्री ने अजातशत्रु को वज्जियों के पीछे न पड़ने की ही सलाह दी।

९. अभ्युन्नति के नियम :

मंत्री के जाने के बाद बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को एकत्र कर इस प्रकार शिक्षा दी :

"भिक्षुओ, मैं तुम्हें अभ्युन्नति के सात नियम समझाता हूँ। उन्हें सावधानीपूर्वक सुनो : [१] जब तुम एकत्र होकर संघ के काम करोगे, [२] जबतक तुम में ऐक्य रहेगा, [३] जबतक संघ के नियमों का भंग नहीं करोगे, [४] जबतक तुम वृद्ध और विद्वान भिक्षुओं को मान दोगे, [५] जबतक तुम तृष्णा के वश नहीं होओगे, [६] जबतक तुम एकान्त प्रिय रहोगे और [७] जबतक

अपने साथियों को सुख होवे ऐसी फिकर रखने की आदत रखोगे, तबतक तुम्हारी उन्नति ही होगी, अवनति नहीं होगी।

"भिक्षुओ, मैं अभ्युन्नति के दूसरे सात नियम कहता हूँ। उन्हें सावधानी पूर्वक सुनो : [१] घरेलू कामों में आनंद नहीं मानना, [२] बोलने में ही सारा समय बिताने में आनंद नहीं मानना [३] सोने में समय नष्ट करने में आनंद नहीं मानना [४] साथियों में ही सारा समय नष्ट करने में आनंद नहीं मानना, [५] दुर्वासनाओं के वश नहीं होना, [६] दुष्टकी संगति में नहीं पड़ना, [७] अल्प समाधि-लाभ से कृतकृत्य नहीं होना। जबतक तुम इन सात नियमों को पालोगे तबतक तुम्हारी उन्नति ही होगी, अवनति नहीं।"

"भिक्षुओ, मैं पुनः अभ्युन्नति के दूसरे सात नियम कहता हूँ। उन्हें सावधानी पूर्वक सुनो : [१] श्रद्धालु बनो [२] पापकर्मों से शरमाओ [३] लोकापवाद से डरो [४] विद्वान बनो [५] सत्कर्म करने में उत्साही रहो [६] स्मृति जागृत रखो [७] प्राज्ञ बनो। जबतक तुम इन सात नियमों का पालन करोगे तबतक तुम्हारी उन्नति ही होगी, अवनति नहीं।"

"भिक्षुओ, मैं फिरसे अभ्युन्नति के सात नियम कहता हूँ। उनपर ध्यान दो। ज्ञानके सात अंगों का हमेशा चिन्तन किया करो। वे सात अंग ये हैं : [१] स्मृति [२] प्रज्ञा [३] वीर्य [४] प्रीति [५] प्रश्रब्धि [६] समाधि [७] उपेक्षा।" *

(अगले पृष्ठ पर फुट नोट)

१०. उपदेश का प्रभाव :

बुद्ध के उपदेश को सुननेवाले पर तत्काल असर होता था। जैसे ढँकी वस्तु को कोई उघाड़ कर बतावे अथवा अंधेरे में दीपक जैसे वस्तुओं को प्रकाशित करता है वैसे ही बुद्ध के उपदेश से श्रोताओं में सत्य का प्रकाश होता था। लुटेरे-जैसे भी उनके उपदेश से

---

* [१] स्मृति यानी सतत जागृति, सावधानी : क्या करता हूँ, क्या सोचता हूँ, कौनसी भावनाएँ, इच्छाएँ आदि मन में उठती हैं, आसपास क्या हो रहा है, इन सब विषयों में सावधानी।

[२] प्रज्ञा अर्थात् मनोवृत्तियों के पृथक्करण की सामर्थ्य : आनंद, शोक, सुख, दुख, जड़ता, उत्साह, धैर्य, भय, क्रोध आदि भावनाओं को उत्पन्न होते समय या उसके बाद पहचान कर उनकी उत्पत्ति कैसे होती है ? उनका शमन कैसे होता है ? उनके पीछे कौनसी वासना रही है ? उनका पृथक्करण। इसे धर्म प्रविचय भी कहते हैं।

[३] वीर्य अर्थात् सत्कर्म करने का उत्साह।

[४] प्रीति अर्थात् सत्कर्म से होनेवाला आनंद।

[५] प्रश्नब्धि अर्थात् चित्त की शान्तता, प्रसन्नता

[६] समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता

[७] उपेक्षा अर्थात् चित्त की मध्यावस्था,, विकारोंपर विजय, वेगके झपट्टे में नहीं आना। हर्ष भी रोका नहीं जा सके, शोक, क्रोध भय भी रोका नहीं जा सके, यह मध्यावस्था नहीं है।

सुधर जाते थे। अनेक व्यक्तियों को उनके वचनों से वैराग्य के बाण लगते और वे सुख-संपत्ति छोड़ उनके भिक्षु-संघ में दीक्षित हो जाते।

११. कतिपय शिष्य :

उनके उपदेश से कईएक स्त्री-पुरुषों का चारित्र्य कैसे निर्माण हुआ यह एक-दो बातों से ठीक तरह से समझा जा सकता है।

१२. पूर्ण नामक एक शिष्य को अपना धर्मोपदेश संक्षेप में समझा बुद्ध ने उससे पूछा : "पूर्ण, अब तुम किस प्रदेश में जाओगे ?"

पूर्ण : "आपके उपदेश को ग्रहण करके अब मैं सुनापरन्त प्रान्त में जानेवाला हूँ।"

बुद्ध : "पूर्ण, सुनापरन्त प्रान्त के लोग बहुत कठोर हैं, बहुत क्रूर हैं। वे जब तुम्हें गाली देंगे, तुम्हारी निन्दा करेंगे, तब तुम्हें कैसा लगेगा ?"

पूर्ण : "उस समय हे भगवन्! मैं मानूँगा कि ये लोग बहुत अच्छे हैं; क्योंकि उन्होंने मुझ पर हाथों से प्रहार नहीं किया।"

बुद्ध : "और यदि उन्होंने तुम पर हाथों से प्रहार किया तो ?"

पूर्ण : "उन्होंने मुझे पत्थर से नहीं मारा, इससे वे लोग अच्छे हैं; ऐसा मैं समझूँगा।"

बुद्ध : "और पत्थरों से मारने पर ?"

पूर्ण : "मुझपर उन्होंने दण्ड-प्रहार नहीं किया, इससे वे बहुत अच्छे लोग हैं; ऐसा मैं समझूँगा।"

बुद्ध : "और दण्डप्रहार किया तो ?"

पूर्ण : "तो ऐसा समझूँगा कि यह उनकी भलमनसाहत है कि उन्होंने शस्त्र-प्रहार नहीं किया।"

बुद्ध : "और यदि शस्त्र-प्रहार किया तो ?"

पूर्ण : "उन्होंने मुझे जान से नहीं मारा, इसे उनकी उपकार समझूँगा।"

बुद्ध : "और यदि प्राणघात किया तो ?"

पूर्ण : "भगवन् ! कितने ही भिक्षु इस शरीर से उकताकर आत्मघात करते हैं। ऐसे शरीर का यदि सुनापरन्त वासियों ने नाश किया तो मैं मानूँगा कि उन्होंने मुझपर उपकार ही किया है; इससे वे लोग बहुत उत्तम हैं, ऐसा मैं समझूँगा।"

बुद्ध : "शाबाश ! पूर्ण, शाबाश ! इस तरह शमदम से युक्त होने पर तुम सुनापरन्त देश में धर्मोपदेश करने में समर्थ होओगे।"

१३. दुष्ट को दण्ड देना यह उनकी दुष्टता का एक प्रकार का प्रतिकार है। दुष्टता को धैर्य और शौर्य से सहन करना और सहन करते-करते भी उनकी दुष्टता का विरोध किए बिना नहीं रहना, यह दूसरे प्रकार का प्रतिकार है। लेकिन दुष्ट की दुष्टता बरतने में जितनी कमी हो उतना ही शुभ चिह्न समझ उससे मित्रता करना और मित्र-भावना द्वारा ही उसे सुधारने का प्रयत्न करना दुष्टता की जड़ काटने का तीसरा प्रकार है। मित्र-भावना और अहिंसा

की कितनी ऊँची सीमा पर पहुँचने का प्रयत्न पूर्ण कर रहा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है।[1]

१४. नकुल-माता की समझदारी :

नकुल माता के नाम से प्रसिद्ध बुद्ध की एक शिष्या का विवेकज्ञान अपने पति की भारी बीमारी के समय कहे हुए वचनों से जाना जाता है। उसने कहा : "हे गृहपति, संसार में आसक्त रहकर तुम मृत्यु को प्राप्त होओ, यह ठीक नहीं है। ऐसा प्रपंचासक्ति-युक्त मरण दुःखकारक है, ऐसा भगवान् ने कहा है। हे गृहपति, कदाचित् तुम्हारे मन में ऐसी शंका आवे कि 'मेरे मरने के बाद नकुल माता-बच्चे का पालन नहीं कर सकेगी, संसार की गाड़ी नहीं चला सकेगी। परन्तु ऐसी शंका मन में न लाओ, क्योंकि मैं सूत कातने की कला जानती हूँ और ऊन तैयार करना भी जानती हूँ। उससे मैं तुम्हारी मृत्यु के बाद बालक का पालन कर सकूँगी। इसलिए हे गृहपति, आसक्तियुक्त अंतःकरण से तुम्हारी मृत्यु न हो, यह मेरी इच्छा है। हे गृहपति, तुम्हें दूसरी यह शंका होना भी संभव है कि 'नकुल-माता मेरे बाद पुनर्विवाह करेगी' परन्तु यह शंका छोड़ दो। मैं आज सोलह वर्ष से उपोसथ व्रत पाल रही हूँ, यह तुम्हें मालूम ही है; तो फिर मैं तुम्हारी मृत्यु के बाद पुनर्विवाह कैसे करूँगी ? हे गृहपति, तुम्हारी मृत्यु के बाद मैं भगवान् तथा भिक्खुसंघ का धर्मोपदेश सुनने नहीं जाऊँगी, ऐसी शंका तुम्हें होना संभव है, लेकिन तुम्हारे बाद पहले के अनुसार ही

---

१. अंगुलीमाल नामक लुटेरे के हृदय-परिवर्तन की कथा भी विलक्षण है। इसके लिए देखो 'बुद्धलीला सार संग्रह'।

बुद्धोपदेश सुनने में मेरा भाव रहेगा ऐसा तुम पूरा विश्वास रखो। इसलिये किसी भी तरह उपाधि-रहित मरण की शरण में जाओ। हे गृहपति, तुम्हारे बाद में बुद्ध भगवान् का उपदेशित शील यथार्थ रीति से नहीं पालूँगी ऐसी तुम्हें शंका होना संभव है। लेकिन जो उत्तम शीलवती बुद्धोपासिकाएँ हैं उनमें से ही मैं एक हूँ ऐसा आप विश्वास मानें। इसलिए किसी भी प्रकार की चिन्ता के बिना मृत्यु को आने दो। हे गृहपति, ऐसा न समझना कि मुझे समाधि-लाभ नहीं हुआ इसलिए तुम्हारी मृत्यु से मैं बहुत दु.खी हो जाऊँगी। जो कोई बुद्धोपासिका समाधि-लाभ वाली होंगी उनमें से मैं एक हूँ ऐसा समझो और मानसिक उपाधि छोड़ दो। हे गृहपति, बौद्ध धर्म का तत्त्व मैंने अबतक नहीं समझा ऐसी भी शंका तुम्हें होगी, परन्तु जो तत्त्वज्ञ उपासिकाएँ हैं उनमें से ही मैं एक हूँ यह अच्छी तरह ध्यान में रखो और मन में से चिन्ताएँ निकाल दो।"

१५. परन्तु सद्भाग्य से उस ज्ञानी स्त्री का पति अच्छा हो गया। जब बुद्ध ने यह बात सुनी तब उसके पति से उन्होंने कहा, "हे गृहपति, तुम बड़े पुण्यशाली हो, कि नकुल-माता जैसी उपदेश करनेवाली और तुमपर प्रेम रखनेवाली स्त्री तुम्हें मिली है। हे गृहपति, उत्तम शीलवती जो उपासिकाएँ हैं उनमें से वह एक है। ऐसी पत्नी तुम्हें मिली यह तुम्हारा महाभाग्य है।"

१६. सच्चा चमत्कार :

हृदय को इस तरह परिवर्तित कर देना ही इन महापुरुषों का बड़ा चमत्कार है। दूसरे चमत्कार तो बालकों को समझाने के खेल हैं।

बौद्ध शिक्षापद

उत्तम है अग्निशिखासम तप्त लोहे का भक्षण।
नहीं असंयमी दुष्ट बन उत्तम राष्ट्रान्न का भोजन ॥[1]

१. प्रत्येक सम्प्रदाय प्रवर्तक अपने शिष्यों का बर्ताव, सदाचार, शिष्टाचार, शुद्धाचार, सभ्यता और नीतिपोषक हो इसके लिए नियम बनाते हैं। इन नियमों में से कुछ सार्वजनिक स्वरूप के होते हैं और कुछ उस-उस सम्प्रदाय की खास रूढ़ियों के स्वरूप के होते हैं, कुछ सार्वकालिक महत्त्व के होते हैं और कुछ का महत्त्व तात्कालिक होता है।

२. बुद्ध धर्म के ऐसे नियमों को शिक्षापद कहते हैं। उनका विस्तृत विवरण श्री धर्मानन्द कोसम्बी की 'बौद्धसंघ का परिचय' पुस्तक में दिया हुआ है।

श्री सहजानन्द स्वामी की शिक्षा-पत्री जैसे प्रत्येक आश्रम और वर्ण के लिए है वैसे ये नियम नहीं हैं। मुख्य रूप से ये भिक्षु

---

१. सेय्यो अयो गुळो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यञ्चे भुञ्जेय दुस्सीलो रट्ठपिन्डं असंयतो। (धम्मपद)

२. गुजरात विद्यापीठ से प्रकाशित।

और भिक्खुणियों के लिए ही हैं। अर्थात् इन सब नियमों का परिचय यहाँ संक्षेप में आज की उपयुक्त भाषा में दिया जाता है :

३. शिष्यों का धर्म :

शिष्यों को अपने गुरु की शुश्रूषा इस प्रकार करनी चाहिए :

(१) प्रातःकर्म—बड़े सबेरे उठ, जूते उतार, वस्त्रों को व्यवस्थित रख, गुरु को मुँह धोने के लिए दतौन और पानी देना और बैठने के लिए आसन बिछाना। उसके बाद उन्हें नाश्ता देना। नाश्ता कर चुकने के बाद हाथ-मुँह धोने को पानी देना और नाश्ते का बर्तन साफ कर व्यवस्थित रूप से उसे जगह पर रख देना। गुरु के उठते ही आसन स्थान पर रख देना और वह जगह यदि गन्दी हुई हो तो साफ कर देना।

(२) विचरण—जब गुरु बाहर जाना चाहें तब उनके बाहर जाने के वस्त्र लाकर देना और पहने हुए कपड़े उतारने पर ले लेना। गुरु बाहर गाँव जानेवाले हों, तो उनके प्रवास के पात्र, बिछौना तथा वस्त्र व्यवस्थित रीति से बाँधकर तैयार रखना। गुरु के साथ अपने को जाना हो तो स्वयं व्यवस्थित रीतिसे वस्त्र पहन शरीर को अच्छी तरह ढँक अपने पात्र, बिछौना व वस्त्र बाँधकर तैयार होना।

(३) मार्ग में चलते समय शिष्य को गुरुसे बहुत दूर अथवा बहुत नजदीक से नहीं चलना चाहिए।

(४) वाणी-संयम : गुरु के बोलते समय उनके बीचमें नहीं बोलना चाहिए, परंतु नियमका भंग न हो, ऐसा कुछ गुरु बोलें तो नम्रता से उसका निवारण करना चाहिए।

(५) प्रत्यागमन : बाहर से वापस लौटते समय खुद पहले आकर गुरु का आसन तैयार करना। पैर धोने के लिए पानी और पट्टा तैयार रखना। आगे जाकर गुरु के हाथ में छाता और वेश इत्यादि हो तो ले लेना, घर में से पहनने का वस्त्र दे देना और पहना हुआ वस्त्र ले लेना। यदि वह वस्त्र पसीने से गीला हो गया हो तो उसे थोड़ी देर धूप में सुखाना, लेकिन उसे धूप में ही नहीं रहने देना। वस्त्र को एकत्र कर लेना और ऐसा करते समय फट न जाय, इसकी सावधानी रखना। वस्त्रों को सँवार कर रख देना।

(६) भोजन : नाश्ते की तरह भोजन करते समय भी गुरु के आसन, पात्र, भोजन आदि की व्यवस्था करना। और भोजन के उपरांत पात्रादि साफ करना और जगह साफ करना।

(७) भोजन के पात्र किसी स्वच्छ पट्टे अथवा चौरंग पर रखना लेकिन नीचे जमीन पर नहीं रखना।

(८) स्नान : यदि गुरु को नहाना हो तो उसकी व्यवस्था करना। उन्हें ठंडा या गर्म जैसा चाहते हों वैसा पानी देना। मर्दन की

आवश्यकता हो तो शरीर में तेल लगाना अथवा मालिश कर देना। जलाशय पर नहाना हो तो वहाँ भी गुरु की व्यवस्था करना। पानी में से बाहर निकल शरीर पोंछ, कपड़े बदल, गुरु को अँगोछा देना और आवश्यक हो तो शरीर पोंछ देना। बाद में उन्हें धोये हुए कपड़े सौंप गीले कपड़े स्वच्छ करके धो डालना। उन्हें तनी पर सुखाना और सूखने के बाद व्यवस्थित घड़ी करके रख देना। लेकिन धूप में अधिक समय नहीं रहने देना।

(९) निवास- स्वच्छता : गुरुके निवास में रोज कचरा साफ कर देना। निवास साफ करते समय पहले जमीन पर की वस्तुएँ जैसे पात्र, वस्त्र, आसन, बिछौना, तकिया आदि उठाकर बाहर अथवा ऊँचे रख देना। खटिया बाहर निकालते समय दरवाजें से टकराये नहीं, इसकी सावधानी रखना। खटियाके प्रतिपादक (पायों के नीचे रखने के लकड़ी के अथवा पत्थर के ठीए) एक ओर रखना। पीकदान उठाकर बाहर रखना। बिछौना किस तरह बिछा है यह ध्यान में रखकर ही बाहर निकालना। यदि निवास में जाले आदि हों तो पहले छत साफ करना। गेरू से रँगी हुई दीवारें तथा पक्का आँगन खराब हो गया हो तो पानी में कपड़ा गीला कर उसे निचोड़कर बादमें साफ करना। साधारण लिपी-पुती जमीन या आँगन से धूल न उड़े इसलिए पहले उसपर पानी छिड़ककर बाद में साफ करना। कचरा जमा कर नियत स्थान पर डाल देना।

बिस्तर, खाट, पाट, चौरंग, पीकदान आदि सब चीजें धूप में सूखने योग्य स्थान पर रख देना।

(१०) मकान में जिस दिशा से हवा के साथ धूल उड़ती हो उस तरफ की खिड़कियाँ बंद कर देना। ठंड के दिनों में दिन को खिड़कियाँ खुली रखना और रातको बंद करना तथा गर्मी में दिन को बंद रखना और रात को खुली रखना।

(११) शिष्य को अपने रहने की कोठरी, बैठने की कोठरी, एकत्र मिलने की बैठक, स्नानगृह तथा पाखाने को साफ रखना चाहिए। पीने तथा बरतने का जल भरकर रखना, पाखाने में रखी कोठी में पानी खतम हो गया हो तो भरकर रखना।

(१२) अध्ययन: गुरु के पास से नियत समय पर पाठ ले लेना और जो प्रश्न पूछने हों, वे पूछ लेना।

(१३) गुरु के दोषों की शुद्धि: गुरु में धर्माचरण में असंतोष या त्रुटि उत्पन्न हुई हो अथवा मन में शंका उत्पन्न होने से मिथ्यादृष्टि प्राप्त हुई हो तो शिष्य दूसरे के जरिए उसे दूर करावे अथवा स्वयं करे। अथवा धर्मोपदेश करे। गुरु से संघ के खासकर नैतिक और सैद्धान्तिक नियमों का भंग हुआ हो तो उनका परिमार्जन हो और संघ उसे फिर से पहली स्थिति में ला रखे, ऐसी योजना करना।

(१४) बीमारी: गुरु की बीमारी में वे जब तक अच्छे न हों अथवा न मरें तबतक उनकी सेवा करना।

४. गुरु के धर्म :

१५. अध्यापन :

अपने शिष्य पर प्रेम रखना और उस पर अनुग्रह करना, उसे क्रम-पूर्वक पढ़ाना, उसके धार्मिक प्रश्नों के उत्तर देना, उपदेश करना तथा रीति-रिवाजों का परिचय दे उसकी मदद करना।

१६. शिष्य की सम्हाल :

अपने पास वस्त्र, पात्र आदि हों और शिष्य के पास न हों, तो उसे देना अथवा प्राप्त करके देना।

१७. बीमारी :

शिष्य की बीमारी में गुरु का जाना-पहचाना शिष्य है और वह गुरु-स्थान पर है, ऐसा बर्ताव करना।

१८. कर्मकौशल :

कपड़े कैसे धोना, स्वच्छता तथा व्यवस्था कैसे करना और कायम रखना आदि बातें शिष्य को क्रमपूर्वक सिखाना।

५. भिक्षु (समाज-सेवक) की योग्यता :

१९. आरोग्यादि :

बौद्ध भिक्षु होने की इच्छा रखनेवाले में नीचे मुजब योग्यता चाहिए—वह कुष्ठ, गंड, किलास, क्षय तथा अपस्मार के रोगों से पीड़ित न हो, पुरुषत्वहीन न हो, स्वतंत्र हो (यानी किसीके दासत्व

में न हो), कर्जदार न हो, माता-पिता की आज्ञा लेकर आया हो, बीस वर्ष पूरे हो गए हों और वस्त्र, बर्तन आदि साधन-युक्त हो।

२०. तैयारी :

भिक्षु की नीचे मुजब तैयारी होनी चाहिए—

(१) आजीवन भिक्षाटन पर रहने की तैयारी; भिक्षा मिल जावेगी तो सद्भाग्य।

(२) चीथड़ों के चीवर पर रहने की तैयारी हो : अखंड वस्त्र मिले तो सद्भाग्य।

(३) वृक्ष के नीचे रहने की तैयारी हो : घर मिले तो सद्भाग्य।

(४) गोमूत्र की औषधि से इलाज की तैयारी : घी, मक्खन आदि वस्तुएँ औषधि के रूप में मिलें तो सद्भाग्य।

२१. व्रत :

भिक्षु के व्रत

भिक्षु को नीचे मुजब व्रत पालना चाहिए—(१) शुद्ध ब्रह्मचर्य (२) अस्तेय : भिक्षु को घास का तिनका भी नहीं चुराना चाहिए—चार आना अथवा उससे अधिक की चोरी करने पर भिक्षु संघ से निकल जाय। (३) अहिंसा : जान-बूझकर छोटे से जंतु

को भी नहीं मारना—मनुष्य-वध करनेवाला, भ्रूण-हत्या करनेवाला निकल जाय। (४) अहंभित्व : अपने को प्राप्त न हुई समाधि प्राप्त हुई बतानेवाला भिक्षु संघ में से निकल जाय।

६. भाषा :

(२२) बौद्ध-धर्म के एक खास नियम द्वारा लोक-भाषाओं में ही उपदेश करने की आज्ञा दी गई है। वैदिक—(संस्कृत) भाषा में अनुवाद करने की मनाही की गई है।

७. अतिथि के धर्म :

बाहरगाँव से बिहार में जानेवाले भिक्षु को वहाँ पहुँचनेपर नीचे मुजब बर्ताव करना चाहिए।

(२३) प्रवेश करते ही चप्पल निकाल झटक देना, छाता नीचे रख देना, सिर पर वस्त्र हो तो उसे उतार कंधे पर लेना और धीरे से प्रवेश करना। भिक्षुओं के एकत्रित होने की जगह की तलाश कर पैर धोना। पैर धोते समय एक हाथ से पानी छोड़ना और दूसरे हाथ से पैर साफ करना; चप्पल पोंछनेका कपड़ा कहाँ है यह पूछ उससे चप्पल पोंछना। पहले कोरे टुकड़े से पोंछ बाद में गीले कपड़े से पोंछना। विहार में रहनेवाले वृद्ध भिक्षुओं को प्रणाम करना और छोटों के प्रणाम स्वीकार करना; अपने रहने के लिए स्थान की तलाश कर वहाँ आसन लगाना; खाने-पीने की तथा

मल-मूत्र त्याग की क्या सुविधा है, यह जान लेना; जाने का, आने का, रहने का तथा सामुदायिक उपासना का समय जान लेना।

८. यजमान के धर्म :

आवासिक (विहार में रहनेवाले) भिक्षु को आगन्तुक भिक्षु का नीचे मुजब सत्कार करना चाहिए।

(२४) यदि आगन्तुक भिक्षु अपने से बड़ा हो तो उसके लिए आसन लगाना। पैर धोने का पानी तथा पाटा तैयार रखना; सामने जाकर उसके हाथ में से सामान ले लेना। पानी पीना चाहता हो तो पूछना। बन सके तो उसकी चप्पल साफ करने का कपड़ा धो डालना। आगन्तुक को प्रणाम करना। उसे रहने का स्थान बताना। सोने आदि के नियमों की जानकारी देना। मल-मूत्र त्याग की जगह बताना।

यदि आगन्तुक भिक्षु अपने से छोटा हो तो स्वयं आसनस्थ रहकर ही बुलाना और 'अमुक अमुक स्थानोंपर पात्र, वस्त्र आदि रखो और अमुक आसन पर बैठो' आदि सूचनाएँ देना।

९. विदा लेनेवाले के कर्तव्य :

विहार से विदा लेकर जाने के पहले नीचे मुजब व्यवस्था करके जाना चाहिए :

२५. अपने बरतने में लिए हुए बरतनों को मूल स्थान पर रख देना अथवा जिन्हें सौंपना हो उनके स्वाधीन कर देना। अपने को रहने के लिए मिले हुए स्थान के खिड़की-दरवाजे बंद करके दूसरे भिक्षुओं को (वे न हों तो चौकीदार को) सूचना देकर जाना चाहिए। खटिया पत्थर के चार ठीयों पर रख तथा उसपर चौरंग आदि रखकर जाना चाहिए।

१०. स्त्रियों के साथ संबंध :

२६. एकान्त भिक्षु को आपत्ति काल अथवा अनिवार्य कारण के बिना किसी स्त्री के साथ एकान्त में नहीं बैठना चाहिए। और सुज्ञ पुरुषों की अनुपस्थिति में उससे पाँच-छः वाक्यों के सिवा अधिक संभाषण, चर्चा, अथवा उपदेश नहीं करना चाहिए; उसके साथ एकाकी प्रवास नहीं करना चाहिए।

२७. एकान्त भंग : पति-पत्नी अकेले बैठे हों या सोए हों, उस भाग में पहले से सूचना दिए बिना भिक्षु को प्रवेश नहीं करना चाहिए।

२८. परिचर्या : भिक्षु को अपने निकट-सम्बंधी के सिवा दूसरी स्त्री से वस्त्र धुलाना और सिलाना नहीं चाहिए।

२९. भेंट : भिक्षु को किसी कौटुम्बिक संबंध-रहित स्त्री अथवा भिक्षुणी को वस्त्रादि भेंट नहीं करना चाहिए।

११. कुछ प्रमाण :

३०. खटिया : खटिया पाये के नीचे की अटनी[1] से आठ सुगत अंगुल ऊँची रखना, अधिक नहीं।

३१. आसन : आसन का आकार अधिक से अधिक लम्बाई दो सुगत विलस्त चौड़ाई लगभग डेढ़ सुगत विलस्त[2] और पुराने आसन से निकाली हुई चारों तरफ की किनार एक विलस्त। चारों

---

१. पायों की बैठक के ऊपर घोड़े के खुर अथवा टाप जैसे भाग।

२ सुगत विलस्त को लगभग डेढ़ हाथ के बराबर कहा है; लेकिन इसमें कुछ भूल मालूम होती है। दूसरे स्थान पर सुगत-अंगुल, सुगत-चीवर ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। मुझे लगता है कि सुगत यानी बुद्ध और सुगत-अंगुल, सुगत-विलस्त और सुगत-चीवर यानी बुद्ध की अंगुल-विलस्त और चीवर का आकार। विलस्त यानी डेढ़ हाथ। इसके अनुसार भिक्षुओं के दूसरी तरह के जीवन को देखते हुए यह बहुत बड़ा प्रमाण है। उदाहरण स्वरूप लुंगी के समान पहनने का पंचा ६×१॥=९ हाथ लंबा और २॥×१॥=३॥ हाथ चौड़ा हो नहीं सकता; लेकिन ६×२॥ बेंत बराबर (लगभग से १॥ से १॥। वार× लगभग २४") यह पर्याप्त गिना जा सकता है। आसन भी ३०"×२५" पर्याप्त होता है।

तरफ जूते आसन की भिन्न रंग की किनार किए बिना आसन नहीं बनाना चाहिए।

३२. काछी-पंचा: लंबाई चार सुगत विलस्त और चौड़ाई दो सुगत विलस्त।

३३. धोतीपंचा : लंबाई छह सुगत वितरित और चौड़ाई लगभग ढाई सुगत विलस्त।

३४. चीवर : लंबाई ९ सुगत विलस्त और चौड़ाई ७ सुगत विलस्त।

१२. सभ्यता :

३५. आसन और गति : शरीर को योग्य रीति से ढँककर चलना और बैठना। नजर नीची रखकर चलना और बैठना। वस्त्र उघाड़कर नहीं चलना और बैठना। जोर से हँसते-हँसते या जोर से आवाज करते नहीं चलना और बैठना। चलते या बैठते शरीर को नहीं हिलाना, हाथ नहीं हिलाना, सिर नहीं घुमाना, कमर पर हाथ नहीं रखना, माथे पर ओढकर नहीं रखना, एडी को ऊँची नहीं रखना। पलस्थिका (पलाठी मार आराम कुर्सी या डोलती कुर्सी-जैसे शरीर को बना कर नहीं बैठना।

३६. भोजन : भोजन करते समय पात्र की तरफ ध्यान रखना, परोसने की वस्तुओं की तरफ ध्यान रखना, कोई वस्तु अधिक न परोसने के लिए ढकने या छिपाने की कोशिश नहीं करना। बीमारी के बिना खास अपने लिए वस्तुएँ तैयार नहीं करवाना, दूसरे के पात्र

की ओर नहीं ताकना, बड़े ग्रास नहीं लेना, ग्रास मुँह तक आए बिना मुँह नहीं खोलना, अंगुलियाँ और हथेली मुँह में डालकर भोजन नहीं करना। मुँह में ग्रास के रहते नहीं बोलना, हाथ झटकाते-झटकाते भोजन नहीं करना, भात इधर-उधर फैलाकर नहीं खाना, जीभ इधर-उधर फिराते हुए नहीं खाना, चपचप आवाज नहीं करना, सू-सु आवाज करते हुए नहीं खाना, हाथ, ओंठ या थाली नहीं चाटना, जूठे हाथ से पानी का गिलास नहीं लेना, जूठा पानी रास्ते में नहीं गिराना।

३७. शौच : बिना बीमारी के खड़े-खड़े, घास पर या पानी में शौच या पेशाब नहीं करना।

कुछ प्रसंग और निर्वाण

शान्ति और सहन-शीलता परम तप है,
बुद्ध निर्वाण को परम श्रेष्ठ बतलाते हैं।
परघाती प्रव्रजित नहीं होता,
दूसरे को पीड़ा न देनेवाला ही श्रमण है।[1]

१. ज्ञानकी कसौटी :

महापुरुषों के उपदेश यह दर्शाते हैं कि उन्होंने क्या सोचा है, उनके उपदेश से समाज पर होनेवाला असर उनकी वाणी के प्रभाव को बताता है। लेकिन उन विचारों और वाणी के पीछे रही हुई निष्ठा उनके जीवन-प्रसंगों से ही जानी जाती है। मनुष्य जितना विचार करता है उतना बोल नहीं सकता और बोलता है उतना कर नहीं सकता। इसलिए वह जो करता है उसपर से ही उनका तत्त्वज्ञान लोगों के हृदय में कितना उतर पाया है, यह परखा जा सकता है।

२. मित्र-भावना :

जो जगत्-सम्बन्धी मैत्री-भावना की अपने को मूर्ति बना सकता है, वह बुद्ध के समान होता है, यह कहने में कोई आपत्ति

---

१. खन्ती परमं तपो तितिक्खा
निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा।
नहि पब्बजितो परूपघाती
समणो होति परं विहेठयन्तो॥ (धम्मपद)

नहीं। प्राणीमात्र के प्रति मित्रत्व के सिवा उनकी कोई दृष्टि ही नहीं थी। उनसे वैरभाव रखनेवाले कितने ही लोग निकले। निकृष्ट-से-निकृष्ट मिथ्या दूषण लगाने से लेकर उन्हें मार डालने तक के प्रयत्न किए गए। लेकिन उनके हृदय में उन विरोधियों के प्रति भी मित्रता के अतिरिक्त किसी प्रकार के हीन-भाव नहीं आए, यह नीचे के प्रसंगों से समझा जा सकता है, और उन पर से अवतार योग्य कौन पुरुष होते हैं, यह ध्यान में आ सकता है।

३. कौशांबीकी रानी :

कौशांबी के राजा उदयन की रानी जब कुमारी थी तब उसके पिता ने बुद्ध से उसका पाणिग्रहण करने की प्रार्थना की थी। लेकिन उस समय बुद्ध ने उत्तर दिया था कि, "मनुष्य का नाशवंत शरीर पर से मोह छूटने के लिए मैंने घर छोड़ा है। विवाह करने में मुझे कोई आनंद नहीं रहा। मैं इस कन्या को कैसे स्वीकार करूँ?"

४. अपने-जैसी सुन्दर कन्या को अस्वीकार करने से उस कुमारी को अपना अपमान लगा। समय आने पर उसने बुद्ध से बदला लेने का निश्चय किया। कुछ दिनों बाद वह उदयन राजा की पटरानी हुई।

५. एक बार बुद्ध कौशांबी में आए। शहर के गुंडों को धन देकर उस रानी ने उन्हें सिखाया कि जब बुद्ध और उनके शिष्य भिक्षा के लिए शहर में भ्रमण करें तब उन्हें खूब गालियाँ दो। इस तरह जब बुद्ध का संघ गलियों में प्रविष्ट हुआ कि चारों तरफ से उनपर बीभत्स गालियों की वर्षा होने लगी। कई शिष्य अपशब्दों

से क्षुब्ध हो उठे। आनंद नामक एक शिष्य ने तो शहर छोड़कर जाने की बुद्ध से प्रार्थना की।

६. बुद्ध ने कहा : "आनंद यदि वहाँ भी लोग अपने को गालियाँ देंगे तो क्या करेंगे?"

आनंद बोला : "अन्यत्र कहीं जावेंगे?"

बुद्ध : "और वहाँ भी ऐसा ही हुआ तो?"

आनंद : "फिर किसी तीसरे स्थान पर।"

बुद्ध : "आनंद, यदि हम इस तरह भाग-दौड़ करते रहेंगे तो निष्कारण क्लेश के ही पात्र होंगे, उल्टे, यदि हम इन लोगों के अपशब्द सहन कर लेंगे तो उनके भय से अन्यत्र जाने का प्रयोजन नहीं रहेगा। और उनकी चार-आठ दिन उपेक्षा करने से वे स्वयं ही चुप हो जावेंगे।

७. बुद्ध के कहे अनुसार सात-आठ दिन में ही शिष्यों को इसका अनुभव हो गया।

८. हत्या का आरोप :

एक समय बुद्ध श्रावस्ती में रहते थे। उनकी लोक-प्रियता के कारण उनके भिक्षुओं का शहर में अच्छा आदर-सम्मान था। इस लिए दूसरे सम्प्रदाय के वैरागियों को ईर्ष्या होने लगी। उन्होंने बुद्ध के संबंध में ऐसी बात उड़ाई कि उनकी चाल-चलन अच्छी नहीं है। थोड़े दिनों के बाद वैरागियों ने एक वैरागी स्त्री का खून करवा उसका शव बुद्ध के विहार के पास एक गढ्ढे में फिकवा दिया; और बाद

में राजा के समक्ष अपने संघ की एक स्त्री के खो जाने की फरियाद की और बुद्ध तथा उसके शिष्यों पर शक प्रकट किया। राजा के आदमियों ने शव की तलाश की और उसे बुद्ध के विहार के पास ढूँढ़ निकाला। थोड़े समय में सारे शहर में यह बात फैल गई और बुद्ध तथा उनके भिक्षुओं पर से लोगों का विश्वास उठ गया। हर कोई उनके ऊपर थू-थू करने लगा।

९. इससे बुद्ध जरा भी नहीं डरे। 'झूठ बोलनेवाले की पाप के सिवा दूसरी गति नहीं है' यह जानकर वे शान्त रहे।

१०. कुछ दिनों बाद जिन हत्यारों ने वैरागिन का खून किया था वे एक शराब के अड्डेपर जमा होकर खून करने के लिए मिले हुए धन का बँटवारा करने लगे। एक बोला: "मैंने सुन्दरी को मारा है इसलिए मैं बड़ा हिस्सा लूँगा।"

दूसरा बोला: "यदि मैंने गला न दबाया होता तो सुन्दरी चिल्लाकर हमारा भंडाफोड़ कर देती।"

११. यह बात राजा के गुप्तचरों ने सुन ली। उन्हें पकड़ कर वे राजा के पास ले गए। हत्यारों ने अपना अपराध स्वीकार कर जो कुछ हुआ था कह दिया। बुद्ध पर लगाया गया अपराध मिथ्या साबित होने से उनके प्रति पूज्यभाव और भी बढ़ गया और पहले के सब वैरागियों का तिरस्कार हुआ।

१२. देवदत्त :

उनका तीसरा विरोधी देवदत्त नामक उन्हींका एक शिष्य था। देवदत्त शाक्य-वंश का ही था। वह ऐश्वर्य का अत्यंत लोभी था। उसे मान और बड़प्पन चाहिए था। उसने किसी राजकुमार को प्रसन्न कर अपना कार्य सिद्ध करने का विचार किया।

१३. राजा बिंबिसार के एक पुत्र का नाम अजातशत्रु था। देवदत्त ने अुसे फुसलाकर अपने वशमें कर लिया।

१४. बाद में वह बुद्ध के पास आकर कहने लगा : "आप अब बूढ़े हो गए हैं इसलिए सारे भिक्षुओं का मुझे नायक बना दें और आप अब शांति से शेष जीवन व्यतीत करें।"

१५. बुद्ध ने यह माँग स्वीकार नहीं की। उन्होंने कहा : "तुम इस अधिकारके योग्य नहीं हो।"

१६. देवदत्त को इससे अपमान मालूम हुआ। उसने बुद्ध से बदला लेने की मन में ठान ली।

१७. वह अजातशत्रु के पास जाकर बोला : "कुमार, मनुष्य-शरीर का भरोसा नहीं। कब मर जावेंगे, कहा नहीं जा सकता। इसलिए जो कुछ प्राप्त करना है उसे जल्दी ही कर लेना चाहिए। इसका कोई निश्चय नहीं है कि तुम पहले मरोगे या तुम्हारे पिता। तुम्हें राज्य मिलने के पहले ही तुम्हारी मृत्यु होना संभव है। इसलिए राजा के मरने की राह न देख उसे मारकर तुम राजा बनो और बुद्ध को मारकर मैं बुद्ध बनूँगा।"

१८. अजातशत्रु को गुरु की युक्ति ठीक जँची। उसने बूढ़े पिता को बन्दीगृह में डाल भूखों मार डाला और स्वयं सिंहासन पर चढ़ बैठा। अब राज्य में देवदत्त का प्रभाव बढ़ जाय तो इसमें आश्चर्य क्या ?

लोग जितना भय राजा से खाते थे उससे अधिक देवदत्त से डरते थ। बुद्ध का खून करने लिए उसने राजा को प्रेरित किया। लेकिन जो जो हत्यारे गए वे बुद्ध को मार ही न सके। निरतिशय अहिंसा और प्रेमवृत्ति, उनके वैराग्यपूर्ण अंतःकरण में से निकलता हुआ मर्मस्पर्शी उपदेश उनके शत्रुओं के हृदयों को भी शुद्ध कर देता। जो जो हत्यारे गए वे बुद्ध के शिष्य हो गए।

१९. शिला प्रहार :

देवदत्त इससे चिढ़ गया। एक बार गुरु पर्वत की तलहटी की छाया में भ्रमण कर रहे थे, तब पर्वत पर से देवदत्त ने भारी शिला उनके ऊपर ढकेल दी। दैवयोग से शिला तो उन पर नहीं गिरी लेकिन उसकी चीप उड़कर बुद्ध देव के पैर में लग गई। बुद्ध ने देवदत्त को देखा। उन्हें उसपर दया आ गई। वे बोले : "अरे मूर्ख, खून करने के इरादे से जो तूने यह दुष्ट कृत्य किया, उससे तू कितने पाप का भागी बना, इसका तुझे भान नहीं है।"

२०. पैर की चोट से बहुत समय तक चलना-फिरना अशक्य हो गया। भिक्षुओं को भय हुआ कि फिर से देवदत्त बुद्ध को मारने का उपाय करेगा। इससे वे रातदिन उनके आसपास पहरा देने

लगे। बुद्ध को जब इस बात की खबर लगी, तब उन्होंने कहा: "भिक्षुओ, मेरे शरीर के लिए चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। मैं नहीं चाहता कि मेरे शिष्य डरकर मेरे शरीर की रक्षा करें। इसलिए पहरा न देकर सब अपने-अपने काम में लगें।"

२१. हाथीपर विजय :

कुछ दिनों के बाद बुद्ध अच्छे हो गए। लेकिन देवदत्त ने पुनः एक हाथी के नीचे दबाने का विचार किया। बुद्ध एक गली में भिक्षा लेने को निकले कि सामने से देवदत्त ने राजा का एक मत्त हाथी उन पर छोड़ दिया। लोग इधर-उधर भागने लगे। जिसे जो जगह दीखी वह वहीं चढ़ गया। बुद्ध को भी ऊपर चढ़ जाने के लिए कुछ भिक्षुओं ने आवाज दी। लेकिन बुद्ध तो दृढ़ता से जैसे चलते थे वैसे ही चलते रहे। अपनी संपूर्ण प्रेमवृत्तिका एकीकरण कर उन्होंने सारी करुणा अपनी आँखों में से हाथी पर बरसाई। हाथी अपनी सूँड़ नीचे कर एक पालतू कुत्ते की तरह बुद्ध के आगे खड़ा रह गया। बुद्ध ने उसपर हाथ फेरकर प्यार जतलाया। हाथी गरीब बन वापस गजशाला में अपने स्थानपर जाकर खड़ा हो गया।

दण्डेनेके दमयन्ति अंकुसेहि कसाहि च।
अदण्डेन असत्थेन नागो दन्तो महेसिना॥

—पशुओं को कोई दण्ड से, अंकुश अथवा लगाम से वश में रखते हैं, लेकिन महर्षि ने बिना दण्ड और शस्त्र ही हाथी को रोक दिया।

२२. देवदत्त की विमुखता :

बाद में देवदत्त ने बुद्ध के कुछ शिष्यों को फोड़कर जुदा पंथ निकाला। पर उन्हें वह रख नहीं सका और सारे शिष्य वापस बुद्ध की शरण में आ गए। कुछ समय बाद देवदत्त बीमार हो गया। उसे अपने कर्मों के लिए पश्चात्ताप होने लगा। पर उन्हें बुद्ध के समक्ष प्रकट करने के पहले ही उसकी मृत्यु हो गई।

२३. अजातशत्रु ने भी अपने कर्मों के लिए पश्चात्ताप किया। उसने फिर से बुद्ध की शरण ली और सन्मार्ग पर चलने लगा।

२४. परिनिर्वाण :

अस्सी साल की उम्र होनेतक बुद्ध ने धर्मोपदेश किया। संपूर्ण मगध में उनके इतने विहार फैल गए कि मगध का नाम 'बिहार' पड़ गया। हजारों लोग बुद्ध के उपदेश से अपना जीवन सुधारकर सन्मार्ग पर लगे। एक बार भिक्षा में कुछ अयोग्य अन्न मिलने से बुद्ध को अतिसार का रोग हो गया। उस बीमारी से बुद्ध उठे ही नहीं। गोरखपुर जिले में कसया नामक एक ग्राम है। वहाँ से एक मील अन्तर पर माथाकुंवर का कोट नामक स्थान है, उसके आगे उस काल में कुसिनारा नामक ग्राम था। वहाँ बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ।

२५. उत्तर क्रिया :

उनकी मृत्यु से उनके शिष्यों में बहुत शोक छा गया। ज्ञानी शिष्यों ने सारे संस्कार अनित्य हैं, किसी के साथ सदा का समागम

नहीं रह सकता, इस विवेक से गुरु का वियोग सहन किया। बुद्ध के फूलों पर कहां समाधि बांधी जावे इस विषय पर उनके शिष्यों में बहुत कलह मच गई। आखिर उन फूलों के आठ विभाग किए गए। उन्हें भिन्न भिन्न स्थानों पर गाड़कर उनपर स्तूप बांधे गए। ये फूल जिस घड़े मे रखे गए थे उस घड़े पर और उनकी चिता के कोयलों पर भी दो स्तूप बांधे गए।

२६. बौद्ध तीर्थ :

फूल पर बांधे हुए आठ स्तूप इन ग्रामों में हैं : राजगृह (पटना के पास), वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकल्प, रत्नग्राम, वेठुद्वीप, पावा और कुसिनारा। बुद्ध का जन्मस्थान लुंबिनीवन (नेपाल की तराई में), ज्ञानप्राप्ति का स्थान बुद्धगया, प्रथमोपदेश का स्थान सारनाथ (काशी के पास) और परिनिर्वाण का स्थान कुसिनारा बौद्ध धर्म के तीर्थ के रूप में लंबे समय तक पुजते रहे।

२७. उपसंहार :

ऐसी पूजा विधि से बुद्ध के अनुयायियों ने बुद्ध के प्रति अपना आदर प्रकट किया। लेकिन उनके खुद के अंतिम उपदेश में इस प्रकार कहा हुआ है : "मेरे परिनिर्वाण के बाद मेरे देह की पूजा करने के बखेड़े में न पड़ना। मैंने जो सन्मार्ग बताया है उस पर चलने का प्रयत्न करना। सावधान, उद्योगी और शांत रहना। मेरे अभाव में मेरा धर्म और विनय को ही अपना गुरु मानना। जिसकी उत्पत्ति हुई है, उसका नाश है यह विचार कर सावधानी पूर्वक बर्ताव करना।"

२८. सच्ची और झूठी पूजा :

बुद्धदेव के तीर्थस्थानों की यात्रा कर हम उनकी पूजा नहीं कर सकते। सत्य की शोध और आचरण के लिए उसका आग्रह, उसके लिए भारी से भारी पुरुषार्थ और उनकी अहिंसा वृत्ति, मैत्री, कारुण्य आदि सद्‌भावनाओं को सबको अपने हृदय में विकसित करना चाहिए। यही उनके प्रति हमारा सच्चा आदर हो सकता है और उनके बोध-वचनों का मनन ही उनकी पूजा और यात्रा कही जा सकती है।

टिप्पणियाँ

१. सिद्धार्थकी विवेक-बुद्धि :

जो मनुष्य हमेशा आगे बढ़ने की वृत्तिवाला होता है वह एक ही स्थिति में कभी पड़ा नहीं रहता। वह प्रत्येक वस्तु में से सार-असार शोधकर, सार को जान लेने योग्य प्रवृत्ति कर असार का त्याग करता है। ऐसी सारासार की चलनी का नाम ही विवेक है। विवेक और विचार उन्नति के द्वार की चाबियाँ हैं।

कई लोग अत्यंत पुरुषार्थी होते हैं। वे भिखारी की स्थितिमें से श्रीमान् बनते हैं। समाज के एकदम निचले स्तर में से पराक्रम और बुद्धि के द्वारा ठेठ ऊपरी स्तर पर पहुँच जाते हैं, और अपार जन-प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं। मट्ठर समझे जानेवाले विद्यार्थी केवल लगन और उद्योग से समर्थ पंडित हो जाते हैं। यह सब पुरुषार्थ की महिमा है। पुरुषार्थ के बिना कोई भी स्थिति या यश प्राप्त नहीं होता।

लेकिन पुरुषार्थ के साथ यदि विवेक न हो तो विकास नहीं होता। विकास की इच्छावाला मनुष्य जिस वस्तु के लिए पुरुषार्थ कर रहा हो, उस वस्तु को अपना अंतिम ध्येय कदापि नहीं मानता; लेकिन उसे प्राप्त करने के लिए जिस शक्ति की जरूरत होती है उसे

प्राप्त करना ही उसका ध्येय होता है। धन को तथा प्रसिद्धि को वह जीवन का सर्वस्व नहीं मानता, लेकिन धन और प्रसिद्धि प्राप्त करना भाता है, वह इस प्रकार प्राप्त की जाती है, और उसे इस प्रकार प्राप्त करना चाहिए, इसी में लगे रहने पर उसके पास धन का इतना ढेर और इतनी लोक-प्रसिद्धि आती है जिसे देख, अनुभव कर वह उसका मोह त्याग देता है; और इसके आगे जो कुछ है, उसकी शोध में अपनी शक्ति लगाता है।

इससे उल्टे, दूसरे लोग एक ही स्थिति में जीवन पर्यंत पड़े रहते हैं। धन को अथवा लोक-प्रसिद्धि को या उससे मिलनेवाले सुखों को ही सर्वस्व मानने से दोनों भार रूप हो जाते हैं और उन्हें सम्हालने में ही आयु पूरी हो जाती है। इतना ढेर जमा करने पर भी उसमें से वह नहीं ही निकलते। धन से और बड़प्पन के आधार पर मैं हूँ और सुखी हूँ, ऐसा मानकर वह भूल करता है। लेकिन ऐसा विचार नहीं करता कि मेरे द्वारा, मेरी शक्ति के द्वारा धन और बड़प्पन आया है, मैं मुख्य हूँ और ये गौण हैं।

किसी भी कार्यक्षेत्र में रहकर अपनी शक्ति का अत्यंत निस्सीम विकास करना इष्ट है। अल्प-संतोष और अल्प-यश से तृप्ति उचित नहीं, लेकिन कार्यक्षेत्र प्रधान वस्तु नहीं है। कार्यद्वारा जीवन का अभ्युदय प्रधान है, इसे नहीं भूलना चाहिए।

जो यह नहीं भूलते उन्हें किसी भी स्थिति में व्यतीत हुए जीवन के हिस्से के लिए शोक करने की जरूरत नहीं

होती। उनका संपूर्ण जीवन उन्हें ऊँचा उठाकर ले जानेवाले रास्ते-जैसा लगता है।

कार्यक्षेत्र प्रधान नहीं है, इसका अर्थ यह नहीं कि प्रवृत्तियाँ बारबार बदलनी चाहिए। लेकिन प्रवृत्ति में से अपनी प्रत्येक शक्ति और भावना के विकास पर दृष्टि रखना आवश्यक है। धन प्राप्त करना आता है तो दान करना भी आना चाहिए; दान से प्रसिद्धि मिली हो तो गुप्त दान में निपुणता प्राप्त करनी चाहिए। धन पर प्रेम है, तो मनुष्य पर भी प्रेम करना आना चाहिए। इस तरह उत्तरोत्तर आगे बढ़ा जा सकता है।

२. सिद्धार्थ की भिक्षा-वृत्ति :

स्नान आदि शौचविधि, पवित्रतासे किया हुआ सात्विक भोजन, व्यायाम इन सब का फल चित्त की प्रसन्नता, जागृति और शुद्धि है। स्नान से प्रसन्नता होती है, नींद उड़ जाती है, स्थिरता आती है और कुछ समय तो मानो त्यौहार के दिन जैसी पवित्रता मालूम होती है। ऐसा सबका अनुभव होगा ही। ऐसा ही परिणाम शुद्ध अन्न आदि के नियमों के महत्त्व से आता है। आसपास का वातावरण अपने शरीर और मनपर बुरा असर न डाल सके, इसलिए इन सब नियमों का पालन किया जाता है।

लेकिन जब ये बातें भुला दी जाती हैं तब इन नियमों का पालन ही जीवन का सर्वस्व बन बैठता है; साधन ही साध्य हो जाता है. और जब ऐसा होता है तब उन्नति की ओर ले जानेवाली जीवन-नौका पर यह नियम जमीन तक पहुँचे हुए लंगर की तरह

हो रहते हैं। बाद में ऐसा भी होता है कि उनसे छूटने की इच्छा रखनेवाला उन्हें एकदम तोड़ डालता है।

फिर यह नियम कुसंस्कार, अप्रसन्नता अजागृति आदि के सामने किले के समान हैं। जिस समय किले से बाहर निकलकर लड़ने की योग्यता आती है। उसमें पड़े रहना भार रूप मालूम होता है और उसी तरह जब मैत्री, करुणा, समता, आदि उदात्त भावनाओं से चित्त भर जाता है तब उन नियमों का पालन प्रसन्नता आदि के बदले उद्वेग ही पैदा करता है। वह मनुष्य उस किले में कैसे रह सकता है ?

चित्त की प्रसन्नता का अर्थ विषयों का आनंद नहीं है। भोग-विलास से कइयों का चित्त प्रसन्न रहता है। चाय, बीड़ी, शराब आदि से बहुतों का चित्त प्रसन्न होता है और बुद्धि जागृत होती है। कई मिष्टान्न से प्रसन्न होते हैं। लेकिन यह प्रसन्नता यथार्थ नहीं है, यह विकारों का क्षणिक आनंद है। जिस समय मन पर किसी तरह का बोझ न हो, उस समय काम से मुक्त होकर घड़ीभर आराम लेने में जैसा अकृत्रिम, स्वाभाविक आनंद होता है, वही सहज प्रसन्नता है।

२. समाधि :

इस शब्द से सामान्य रूप में लोग ऐसा समझते हैं कि प्राण को रोक अधिक समय तक शव के समान पड़े रहना समाधि है। अमुक एक वस्तु या विचार की भावना करते-करते ऐसी स्थिति हो

जाय कि जिससे देह का भान न रहे, श्वासोच्छ्वास धीमा अथवा बंद हो जाय और मात्र उस वस्तु अथवा विचार का ही दर्शन हो, इसे समाधि शब्द से पहचाना जाता है।

ऊपर कही हुई स्थिति को प्राप्त करने के मार्ग को हठयोग कहते हैं। सिद्धार्थ ने कालाम और उद्रक द्वारा इस हठयोग की समाधि प्राप्त की थी, ऐसा मालूम होता है। इस प्रकार की समाधि से समाधि-काल में सुख और शांति होती है। समाधि पूरी होने पर वह सामान्य लोगों की तरह ही हो जाता है।

लेकिन समाधि शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। और सिद्धार्थ ने अपने ही समाधि-योग से अपने शिष्यों को शिक्षा दी है। वह हठयोग की समधि नहीं है। जिस वस्तु अथवा भावना के साथ चित्त ऐसा तद्रूप हो गया हो कि उसके सिवा दूसरा कुछ देखकर भी उसका कोई असर नहीं हो सकता अथवा सर्वत्र उसीका दर्शन होता है, उस विषय में चित्त की समाधि दशा कहाती है। मनुष्य की जो स्थिर भावना हो, जिस भावना से वह कभी नीचे नहीं उतरता हो उस भावना में उसकी समाधि है, ऐसा समझना चाहिए। समाधि शब्द का धात्वर्थ भी यही है। उदाहरण से यह विशेष स्पष्ट होगा।

लोभी मनुष्य जिस जिस वस्तु को देखता है उसमें धन को ही ढूंढता रहता है। ऊसर जमीन हो या उपजाऊ, छोटा फूल हो या सुवर्णमुद्रा, वह यही ताकता है कि इसमें से कितना धन मिलेगा।

जिस दिशा की ओर वह नजर फेंकता है, उसमें से वह धन प्राप्ति की संभावना को ढूँढ़ता है। उसे सारा जगत धनरूप ही भासित होता है। उड़ते पक्षियों के पंखों, जाति-जाति की तितलियों और सुखी टेकड़ियों, नहरें निकालने जैसी नदियों, तेल निकालने जैसे कुँओं, जहाँ बहुत लोग आते हैं ऐसे तीर्थस्थानों आदि सबको वह धन-प्राप्ति के साधन के रूप में उत्पन्न हुआ मानता है। चित्त की ऐसी दशा को लोग समाधि कह सकते हैं।

कोई रसायन-शास्त्री जगत में जहाँ-तहाँ रासायनिक क्रियाओं के ही परिणाम रूप सबको देखता है। वह शरीर में, वृक्ष में, पत्थर में, आकाश में, सब जगह रसायन का ही चमत्कार देखता है। ऐसा कह सकते हैं कि उसकी रसायन में समाधि लग गई है।

कोई आदमी हिंसा से ही जगत के व्यवहार को देखता है। बड़ा जीव छोटे को मारकर ही जीता है, ऐसा वह सब जगह निहारता है। "बलवान को ही जीने का अधिकार है" ऐसा नियम वह दुनिया में देखता है। उसकी हिंसा-भावना में ही समाधि लग गई समझना चाहिए।

फिर कोई आदमी सारे जगत को प्रेम के नियम पर ही रचा हुआ देखता है। द्वेष को वह अपवाद रूप में अथवा विकृत रूप में देखता है। संसार का शाश्वत नियम--संसार को स्थिर रखनेका नियम--परस्पर प्रेमवृत्ति है, ऐसा ही उसे दीखता है। उसके चित्त की प्रेम-समाधि है।

कोई भक्त अपने इष्ट-देव की मूर्ति को ही अणु-अणु में प्रत्यक्षवत् देखता है, उसकी मूर्ति-समाधि समझिए।

इस प्रकार जिस भावना में चित्त की स्थिरता हुई हो उस भावना को उसकी समाधि कहना चाहिए।

प्रत्येक मनुष्य को इस तरह कोई-न-कोई समाधि है। लेकिन जो भावनाएँ मनुष्य की उन्नति करनेवाली हैं, उसका चित्त शुद्ध करनेवाली है, उन भावनाओं की समाधि अभ्यास करने योग्य कही जाती है। ऐसी सात्विक समाधियाँ ज्ञान-शक्ति, उत्साह, आरोग्य, आदि सब को बढ़ानेवाली हैं। वे दूसरों को भी आशीर्वाद रूप होती हैं। उनमें स्थिरता होने पर फिर चंचलता नहीं आती; इसके बाद नीचे की हलकी भावना में प्रवेश नहीं होता। ऐसी भावनाएँ मैत्री, करुणा, प्रमोद, उपेक्षा आदि वृत्तियों की हैं। एक बार स्थिरता से प्राणिमात्र के प्रति मैत्री-भावना होने पर उससे उतरकर हिंसा या द्वेष नहीं ही होता। ऐसी भावनाओं और शीलों के अभ्यास से मनुष्य शांति और सत्य के द्वार तक पहुँचता है। मानवों के इस प्रकार के उत्कर्ष बिना हठयोग की समाधि विशेष फल प्रदान नहीं करती। इस प्रकार समाधि-लाभ के बारे में बौद्ध-ग्रंथों में बहुत सुन्दर सूचनाएँ हैं।

४. समाज-स्थिति :

सच देखा जाय तो प्रत्येक काल में तीन प्रकार के लोग होते हैं : एक प्रत्यक्ष नाशवंत जगत को भोगने की तृष्णावाले; दूसरे

मरने के बाद ऐसे ही काल्पनिक होने से विशेष रम्य लगनेवाले जगत को भोगने की तृष्णावाले (ऐसे लोग इन काल्पनिक भोगों के लिए काल्पनिक देवों की अथवा भूतकाल में हुए पुरुषों को कल्पना से अपने से विजातीय स्वरूप दे उनकी उपासना करते हैं।); तीसरे मोक्ष की वासनावाले अर्थात् प्रत्यक्ष सुख, दुख, हर्ष, शोक से मुक्ति की इच्छावाले नहीं, किंतु जन्म और मरण के चक्कर से निवृत्त होने की इच्छावाले।

इससे चौथे, संत पुरुष, प्रत्यक्ष जगत में से भोग-भावना का नाश कर, मृत्यु के बाद भोग भोगने की इच्छा का भी नाश करते हैं तथा जन्म-मरण की परंपरा के भय से उत्पन्न हुई मोक्ष वासना को भी छोड़ जिस स्थिति में, जिस समय वे हों उसी स्थिति को शांतिपूर्वक धारण करनेवाले होते हैं। वे भी प्रत्यक्ष को ही पूजनेवाले हैं, किन्तु इनमें उनकी भोगवृत्ति नहीं है; केवल मैत्री, कारुण्य या प्रमोद की वृत्ति से ये प्रत्यक्ष गुरु और भूत प्राणी को पूजते हैं।

इस प्रत्येक उपासना से मनुष्य को पार होना पड़ता है। कितने समय तक वह एक ही भूमिका पर टिका रहेगा, यह उसकी विवेक दशा पर अवलंबित रहता है।

५. शरणत्रय :

भिन्न-भिन्न नाम से इस शरण-त्रय की प्रत्येक सम्प्रदाय में महिमा स्वीकार की है। इनका कारण यह है कि ये शरण-त्रय स्वाभा-

षिक ही हैं। गुरु में निष्ठा, साधन में निष्ठा और गुरुभाइयों में प्रीति अथवा संत-समागम। इस त्रिपुटी के बिना किसी पुरूष की उन्नति नहीं होती। बौद्ध शरण-त्रय के पीछे यही भावना रही है। स्वामीनारायण सम्प्रदाय में इन तीन भावनाओं को निश्चय (सहजानंद स्वामी में निष्ठा), नियम (सम्प्रदाय के नियमों का पालन) और पक्ष (सत्संगियों के प्रति बंधु-भाव) इन नामों से संबोधित किया है।

बुद्धं शरणं गच्छामि—इस शरण की यथार्थता तो वास्तविक रूप में तब ही थी जब बुद्ध प्रत्यक्ष थे। अपने गुरुकी पूर्णता के विषय में दृढ़ श्रद्धा न हो तो शिष्य ऊँचा उठ नहीं सकता। जब तक ब्रह्मनिष्ठ गुरु की प्राप्ति न हो तब तक ही मुमुक्षु को किसी देवादिक के प्रति या भूतकालीन अवतारों की भक्ति में रस आता है। गुरु-प्राप्ति के बाद गुरु ही परम दैवत् परमेश्वर बनते हैं। वेद धर्मों में अर्थात् अनुभव अथवा ज्ञान के आधार पर रचे हुए समस्त धर्मों में गुरु को ही सर्वश्रेष्ठ दैवत् माना है।

लेकिन जब-जब कोई गुरु सम्प्रदाय स्थापित कर जाते हैं तब प्रत्यक्ष गुरु की उपासना में से परोक्ष अवतार या देव की उपासना में वे सम्प्रदाय उतर पड़ते हैं। समय बीतने पर आद्यस्थापक परमेश्वर का स्थान प्राप्त करता है और वह अपना तारक है इस श्रद्धा की नींव पर सम्प्रदाय की रचना होती है। उसके बाद इस प्रथम शरण की भावना भिन्न ही स्वरूप धारण करती है।

ये तीन शरण आध्यात्मिक मार्ग में ही उपकारी हैं यह नहीं मानना चाहिए। कोई भी संस्था या प्रवृत्ति नेता या आचार्य के प्रति

श्रद्धा, उनके नियमों का पालन और उनसे सम्बद्ध दूसरों के प्रति बन्धुभाव बिना यशस्वी नहीं हो सकती। "अपनी संस्था का अभिमान" इन शब्दों में ही ये तीन भावनाएँ पिरोई हुई हैं, और इसी से ऊपर कहा है कि यह शरणत्रय स्वाभाविक है।

वर्तमान काल में गुरु-भक्ति के प्रति उपेक्षा या अनादर की वृत्ति कई स्थानों पर देखने में आती है। उन्नति की इच्छा रखनेवाले को यह वृत्ति स्वीकार करने के लालच में नहीं पड़ना चाहिए। आर्यवृत्ति के धर्म अनुभव के मार्ग हैं। अनुभव कभी भी वाणी से बताये नहीं जा सकते। पुस्तकें इससे भी कम बताती हैं। पुस्तकों से सारा ज्ञान प्राप्त होता हो तो विद्यार्थियों के मूलाक्षर, बारहखड़ी और सौ या हज़ार तक अंक सीखने पर शालाएँ बंद की जा सकती हैं; लेकिन पुस्तक कभी भी शिक्षक का स्थान नहीं ले सकती; वैसे ही शास्त्र भी अनुभवी संतों की समानता नहीं कर सकते।

फिर भक्ति, पूज्यभाव, आदर--यह मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। थोड़े-बहुत अंशों में सब में वह रहती है। जैसे-जैसे वह परोक्ष अथवा कल्पनाओं में से निकल प्रत्यक्ष में उतरती है, वैसे-वैसे वह पूर्णता के अधिक समीप पहुँचती है। ऐसी प्रत्यक्ष भक्ति की भूख पूरी-पूरी प्रकट होने और उसकी तृप्ति होने पर ही निरालंब शांति की दशा पर पहुँच जाता है। गुरुभक्ति के सिवा इस भूख की पूरी-पूरी तृप्ति नहीं हो सकती। मातापिता प्रत्यक्ष रूप से पूज्य हैं लेकिन उनके प्रति अपूर्णता का भान होने से उनकी अच्छी तरह भक्ति करने पर भी भक्ति की भूख रह जाती है। और उसे पूरी करने के लिए जब तक सद्‌गुरु की प्राप्तिः न हो तब तक मनुष्य को परोक्ष देवादि की साधना का आश्रय लेना पड़ता है। इस तरह गुरु ज्ञान

प्राप्ति के लिए आवश्यक है या नहीं इस विचार को एक तरफ रखें तो भी यह कहा जा सकता है कि उसके बिना मनुष्य की भक्ति की भावना का पूर्ण विकास होकर उसके बाद की भावना में प्रवेश नहीं हो सकता।

६. वर्ण की समानता :

समाज में वर्ण-व्यवस्था होना एक बात है और वर्ण में ऊँच-नीचपन का अभिमान होना दूसरी बात है। वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध किसी संत ने आपत्ति नहीं की। विद्या की, शस्त्र की, अर्थ की या कला की उपासना करनेवाले मनुष्यों के समाज में भिन्न-भिन्न कर्म हों इसमें किसी को आपत्ति करना भी नहीं है। लेकिन उन कर्मों को लेकर जब ऊँच-नीच के भेद डाल वर्ण का अभिमान किया जाता है तब उन के विरुद्ध संत कटाक्ष करते ही हैं। उस अभिमान के विरुद्ध पुकार करनेवाले केवल बुद्ध ही नहीं हैं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, वल्लभाचार्य, चैतन्यदेव, नानक, कबीर, नरसीह मेहता, सहजानंद स्वामी आदि कोई भी संत वर्ण के अभिमान पर प्रहार किए बिना नहीं रहे। इनमें से बहुतों ने अपने लिए तो चालू रूढ़ियों के बन्धन को भी काट डाला है। सब ने इन रूढ़ियों को तोड़ने का आग्रह नहीं किया है। इसके दो कारण हो सकते हैं: एक इस प्रेम-भावना के बल से स्वयम् को इन नियमों में रहना अशक्य लगा। इस भावना के विकास के बिना उन रिवाजों का भंग जरा भी लाभदायक नहीं, तथा दूसरे, रूढ़ियों के संस्कार इतने बलवान होते हैं कि वे सहज ही जीते नहीं जा सकते।

म हा वी र

'महावीर' सम्बन्धी स्पष्टीकरण

'महावीर' का चरित्र चाहिए उतना विस्तार पूर्वक नहीं लिखा जा सका, इसका खेद है। 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष' में इनका जीवन विस्तार पूर्वक है, किन्तु इसमें दिए गए वृत्तान्तों में कितने सच्चे हैं, यह शंकास्पद है। 'आजीवक' इत्यादिकी बातें इकतर्फा और साम्प्रदायिक झगड़ों से रंगी हुई आती हैं। जैनधर्मका हिन्दुस्तान में जो महत्व है, उसे देखते हुए महावीर विषयक विश्वसनीय सामग्री थोड़ी ही मिल सकती है, यह शोचनीय बात है।

जैनधर्म के तत्वज्ञान को समझाना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है, इसीलिए इस चर्चा में मैं उतरा नहीं हूँ।

इस कारण 'महावीर' का भाग बहुत छोटा लगता है, फिर भी जितना है वही इस महापुरुष को सच्चे रूपमें दर्शाता है, ऐसा मैं मानता हूँ।

इस भाग में पं० सुखलालजी तथा श्री० रमणीकलाल मगनलाल मोदी की मुझे जो सहायता मिली है, उसके लिए उनका आभारी हूँ।

—कि० घ० म०

गृहस्थाश्रम

१. जन्म :

बुद्धदेव के जन्म के कुछ वर्षों पहिले मगध देश में इक्ष्वाकु कुल की एक शाखा में जैनों के अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर का जन्म हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ क्षत्रियकुण्ड नामक गांव के राजा थे। उनकी माता का नाम त्रिशला था। वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित जैनधर्म के अनुयायी थे*। महावीर का जन्म चैत सुदी १३ को हुआ था। उनके निर्वाण-काल से जैन लोगों में वीर सम्वत् की

---

*जैन धर्म महावीर से पहले का है। कितना पहले, यह कहना तो कठिन है; परन्तु महावीर के पहिले पार्श्वनाथ तीर्थंकर माने जाते थे और उनका सम्प्रदाय चलता था। चौबीस बुद्ध, चौबीस तीर्थंकर और चौबीस अवतारों की गणना बौद्ध, जैन और ब्राह्मण इन तीनों धर्मों में है। इसमें चौबीस बुद्धों की बातें काल्पनिक ही मालूम होती हैं। गौतम बुद्ध के पहले बौद्ध धर्म रहा हो, यह माना नहीं जा सकता। तीर्थंकरों और अवतारों में ऋषभदेव जैसे कितने नाम दोनों धर्मों में सामान्य मिलते हैं। तीर्थंकर नेमिनाथ श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे, ऐसी जैन मान्यता है। इन सभी बातों में ऐतिहासिक प्रमाण कितना और पीछे से मिलाई हुई बातें कितनी, यह निश्चित करना कठिन है। किसी एक धर्म ने चौबीस संख्या की कल्पना प्रारम्भ की और दूसरों ने उसकी देखादेखी की, ऐसा प्रतीत होता है। —लेखक

गणना होती है। वीर सम्वत् विक्रम सम्वत् से ४७० वर्ष पुराना है। ऐसा मानते हैं कि निर्वाण के समय महावीर की उम्र: ७२ वर्ष की थी। अतः उनका जन्म विक्रम सम्वत् से ५४२ वर्ष पहिले माना जा सकता है।

२. बाल-स्वभाव एवं मातृ-भक्ति :

महावीर का जन्म-नाम वर्धमान था। वे बचपन से ही अत्यन्त मातृभक्त और दयालु स्वभाव के थे तथा वैराग्य और तप की ओर उनकी रुचि थी।

३. पराक्रम-प्रियता :

वर्धमान की बाल्यावस्था में क्षात्रोचित खेलों में बहुत रुचि थी। उनका शरीर ऊँचा, बलिष्ठ और स्वभाव पराक्रम-प्रिय था। उन्होंने बचपन से ही भय को हृदय में कभी स्थान नहीं दिया। एक बार आठ वर्ष की उम्र में कुछ लड़कों के साथ खेलते-खेलते वे जंगल में चले गए। वहाँ उन्होंने एक पेड़ के नीचे एक भयंकर सर्प को पड़ा हुआ देखा। दूसरे लड़के उसे देखकर भागने लगे। लेकिन आठ वर्ष के वर्धमान ने उसे एक माला की तरह उठाकर फेंक दिया।

४. बुद्धिमत्ता :

वे जैसे पराक्रम में अग्रणी थे, वैसे ही पढ़ने में भी। कहा जाता है कि ९ वर्ष की उम्र में उन्होंने व्याकरण सीख लिया था।

५. विवाह :

सात हाथ ऊँची कायावाले वर्धमान यथाकाल तरुण हुए। बालपन से ही उनकी वृत्ति वैराग्य-प्रिय होने से संन्यास ही उनके जीवन का लक्ष्य था। उनके माता-पिता विवाह करने के लिए आग्रह करते, लेकिन वे नहीं करना चाहते थे। आखिर उनकी माता अत्यंत आग्रह करने लगीं और उनके सन्तोष के लिए विवाह करने के लिए उन्हें समझाने लगीं। उनके अविवाहित रहने के आग्रह से माता के दिल में बहुत दुख होता था और वर्धमान का कोमल स्वभाव वह दुख नहीं देख सकता था। इसलिए अन्त में उन्होंने माता के संतोष के लिए यशोदा नाम की एक राजपुत्री के साथ विवाह किया। जिससे प्रियदर्शना नामक एक कन्या हुई। आगे जाकर इस कन्या का विवाह जमाली नामक एक राजपुत्र के साथ हुआ।

६. माता-पिता का अवसान :

वर्धमान जब २८ वर्ष की उम्र के हुए तब उनके माता-पिता ने जैन भावनानुसार अनशन व्रत करके देह-त्याग किया। वर्धमान के बड़े भाई नन्दिवर्धन राज्यारूढ़ हुए।

७. गृह-त्याग :

दो वर्ष के ही बाद संसार में रहने का कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा सोचकर जिस संन्यासी जीवन के लिए उनका चित्त व्याकुल हो रहा था उसे स्वीकार करने का उन्होंने निश्चय किया।

उन्होंने अपनी सर्व सम्पत्ति का दान कर दिया। केशलोचन करके राज्य छोड़कर केवल एक वस्त्र से वे तप करने के लिए निकल पड़े।

८. वस्त्रार्ध दान :

दीक्षा के बाद जब वे चले जा रहे थे, तब एक वृद्ध ब्राह्मण उनके पास आकर भिक्षा मांगने लगा। वर्धमान के पास पहने हुए वस्त्र के अतिरिक्त और कुछ न था, अतः उसका भी आधा भाग उन्होंने ब्राह्मण को दे दिया। ब्राह्मणने अपने गाँव जाकर उसके फटे भाग का पल्ला बनवाने के लिए वह वस्त्र एक तुननेवाले को दे दिया। तुननेवाले ने वस्त्र को मूल्यवान देखकर ब्राह्मण से कहा—"यदि इसका दूसरा भाग मिले तो उसके साथ इसे इस तरह जोड़ दूँ कि कोई जान न सके। फिर उसे बेचने से भारी मूल्य मिलेगा और हम दोनों उसे बाँट लेंगे।" उससे ललचाकर ब्राह्मण फिर वर्धमान की खोज में निकल पड़ा।

साधना

१. महावीर पद :

घर से निकलने के साथ ही वर्धमान ने कभी भी किसी पर क्रोध न करने और क्षमा को अपने जीवन का व्रत मानने का निश्चय किया था। साधारण वीर बड़े पराक्रम कर सकते हैं, सच्चे क्षत्रिय विजय मिल जाने पर शत्रु को क्षमा कर सकते हैं, लेकिन वीर भी क्रोध पर विजय नहीं पा सकते और जब तक पराक्रम करने की शक्ति रहती है तब तक क्षमा नहीं कर सकते। वर्धमान पराक्रमी तो थे ही, लेकिन साथ ही उन्होंने क्रोध को भी काबू में किया और शक्ति के रहते हुए क्षमा-शील होने की सिद्धि प्राप्त कर ली। इसीलिए वे महावीर कहलाए।

२. साधना का बोध :

घर से निकलने के बाद महावीर का १२ वर्ष का जीवन इस बात का उत्तम उदाहरण है कि तपश्चर्या का कितना उग्र-से-उग्र स्वरूप हो सकता है, सत्य की शोध के लिए मुमुक्षु की व्याकुलता कितनी तीव्र होनी चाहिये, सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, ज्ञान और योग की व्यवस्थितता, अपरिग्रह, शांति दम इत्यादि दैवी गुणों का उत्कर्ष कहां तक साधा जा सकता है, तथा चित्त की शुद्धि किस तरह की होनी चाहिए।

३. निश्चय :

उस समय के उनके जीवन का विस्तार सहित विवरण यहाँ देना अशक्य है। उनमें से कुछ प्रसंगों का ही उल्लेख किया जा सकेगा। अपने साधना-काल में उन्होंने आचरण सम्बन्धी कुछ बातें तय की थीं। पहली यह कि दूसरे की मदद की अपेक्षा न रखना, अपने पुरुषार्थ और उत्साह से ही ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पाना। उनका अभिप्राय था कि अन्य की सहायता से ज्ञान प्राप्त हो ही नहीं सकता। दूसरी यह कि जो उपसर्ग[1] और परीषह[2] उपस्थित हों उनसे बचने की चेष्टा न करना। उनका ऐसा अभिप्राय था कि उपसर्ग और परीषह सहन करने से ही पापकर्म क्षय होते हैं और चित्त की शुद्धि होती है। दुःख मात्र पाप कर्म का फल है और वह जब आ पड़े तो उसे दूर करने का प्रयत्न आज होनेवाले दुःख को भविष्य की ओर ठेलने जैसा है। क्योंकि फल भोगे बिना कभी निस्तार नहीं होता।

४. उपसर्ग और परीषह :

इसलिए बारह वर्ष उन्होंने ऐसे प्रदेशों में घूमते हुए बिताये जिनमें उन्हें अधिक से अधिक कष्ट हो। जहाँ के लोग क्रूर, आतिथ्य भावनासे विहीन, संत-द्रोही, गरीबों को त्रास देनेवाले, निष्कारण

१—दूसरे प्राणियों द्वारा उपस्थित विघ्न एवं क्लेश।

२—नैसर्गिक आपत्ति।

परपीड़न में आनन्द माननेवाले होते वहाँ वे जान-बूझकर जाते थे। ऐसे लोग उन्हें मारते, भूखा रखते, उनके पीछे कुत्ते छोड़ देते, रास्ते में अनुचित मसखरी करते, उनके समक्ष बीभत्स आचरण करते और उनकी साधना में विघ्न डालते। कितनी ही जगहों पर उन्हें ठंड, ताप, झंझा, वर्षा वगैरह नैसर्गिक कष्ट और सर्प, व्याघ्र वगैरह हिंस्र प्राणियों द्वारा उपस्थित संकट भोगने पड़े। जिन बारह वर्षों का विवरण उपसर्ग और परीषहों के करुणाजनक वर्णनोंसे भरा हुआ है। जिस धैर्य और क्षमावृत्ति से उन्होंने ये सब सहे, उसे स्मरण कर स्वाभाविक रूप से हमारा हृदय उनके प्रति आदर से खिंच जाता है। उनके जीवनचरित्र से मालूम होता है कि सर्प जैसे वैर को न भूलनेवाले प्राणी भी इनकी अहिंसा के प्रभाव में आकर अपना वैर भाव छोड़ देते। लेकिन मनुष्य तो सर्प और व्याघ्र से भी ज्यादा परपीड़क सिद्ध होता।

५. कुछ प्रसंग :

एक बार महावीर मोराक नामक गाँव के निकट आ पहुँचे। वहाँ उनके पिता के एक मित्र कुलपति का आश्रम था। उन्होंने आश्रम में एक कुटी बांधकर महावीर से चातुर्मास साधना करने की विनती की। कुटी घास की बनाई हुई थी। वर्षा का प्रारम्भ अभी नहीं हुआ था। एक दिन कुछ गायें आकर इनकी तथा दूसरे तापसों की कुटियों की घास खाने लगीं। दूसरे तापसों ने तो लकड़ी से गायों को हकाल दिया, परन्तु महावीर अपने ध्यान में ही स्थिर बैठे रहे। यह निस्पृहता दूसरे तापस न सह सके और

उन्होंने कुलपति के पास जाकर कुटी की घास खाने देने के बारे में महावीर की शिकायत की। कुलपति ने महावीर को उनकी इस लापरवाही के लिए उपालम्भ दिया। इससे महावीर को खयाल हुआ कि उनके कारण दूसरे तापसों के मन में अप्रीति होती है. इसलिए उनका यहाँ रहना उचित नहीं। उसी समय उन्होंने नीचे लिखे पाँच व्रत लिए—(१) जहाँ दूसरे को अप्रीति हो वहाँ नहीं बसना। (२) जहाँ रहना वहाँ कायोत्सर्ग[1] करके ही रहना (३) सामान्यतया मौन रखना (४) हाथ में ही भोजन करना और (५) किसी गृहस्थ की विनय[2] न करना। संन्यास ग्रहण करते ही इन्हें दूसरे के मन की बात जान लेने की सिद्धि प्राप्त हुई। इस सिद्धि का उन्होंने कुछ उपयोग भी किया।

६. दिगम्बर दशा :

पहले वर्ष के अंत में एक बार एक झाड़ी से जाते समय उनका आधा वस्त्र काँटों में उलझ गया। छिदे हुए कपड़े को निरुप-

---

१—कायोत्सर्ग—काया का उत्सर्ग। शरीर को प्रकृति के अधीन करके ध्यानस्थ रहना, उसके रक्षण के लिये किसी प्रकार के कृत्रिम उपाय जैसे झोंपड़ी बनाना, कम्बल ओढ़ना, ताप लेना नहीं करना।

२—अपनी आवश्यकता के लिये गृहस्थ के ऊपर अवलम्बित न रहना और उसकी आजिज़ी न करना।

योगी समझ कर महावीर आगे बढ़े। उपर्युक्त ब्राह्मण ने यह आधा वस्त्र उठा लिया। महावीर इसी दिन से जीवन-भर वस्त्र-रहित[1] दशा में विचरण करते रहे।

७. लाढ़ में विचरण :

महावीर को सबसे ज्यादा परेशानी और क्रूर व्यवहार का सामना लाढ़[2] प्रदेश में करना पड़ा था। कहा जाता है कि वे वहाँ इसलिये बहुत समय तक फिरते रहे क्योंकि उन्होंने सुन रक्खा था कि वहाँ के लोग अत्यन्त आसुरी हैं।

८. तप का प्रभाव :

महावीरका स्वभाव ही ऐसा था कि वे प्रसिद्धि से दूर ही रहना चाहते थे। किसी स्थान पर अधिक समय तक वे नहीं रहते

१—अब तक महावीर साम्बर—वस्त्र सहित थे। अब दिगम्बर हुए इस कारण जैनों में महावीर की उपासना के दो भेद हो गये। जो सवस्त्र महावीर की उपासना करते हैं वे श्वेताम्बर, जो निर्वस्त्र की उपासना करते हैं वे दिगम्बर कहलाते हैं। दिगम्बर जैन साधु अब विरले ही हैं।

२—लाढ को कितने ही लोग लाट समझते हैं और ऐसा मानते हैं कि वह गुजरात में है। लेकिन यह नाम की समानता से उत्पन्न हुई भ्रांति है। वास्तविक रूप से अभी जो 'राढ' नाम का भाग—भागीरथी के किनारे के आसपास का वह बंगाल—जहाँ मुर्शिदाबाद, अजीमगंज हैं, वही लाढ़ है।

थे। जहाँ मान मिलने की सम्भावना होती वहाँ से वे चल पड़ते। उनके चित्त में अभी भी शांति न थी। फिर भी उनकी लम्बी उपश्चर्या का स्वाभाविक प्रभाव लोगों पर होने लगा और उनकी अनिच्छा होने पर भी वे धीरे-धीरे पूजनीय होते गये।

९. अन्तिम उपसर्ग :

जिस प्रकार बारह वर्ष व्यतीत हो गये। बारहवें वर्ष में उनको सबसे कठिन उपसर्ग हुआ। एक गाँव में एक पेड़ के नीचे वे ध्यानस्थ होकर बैठे थे। उसी समय एक ग्वाला बैल चराते हुए वहाँ आया। किसी कार्य का स्मरण होने से बैलों को महावीर के सुपुर्द कर वह गाँव में गया। महावीर ध्यानस्थ थे। उन्होंने ग्वाले का कहा कुछ सुना नहीं। लेकिन ग्वाले ने उनके मौन को सम्मति मान ली। बैल चरते-चरते दूर चले गये। थोड़ी देर बाद ग्वाला आकर देखता है तो बैल नहीं। उसने महावीर से पूछा। परन्तु ध्यानस्थ होने से उन्होंने कुछ नहीं सुना। इससे ग्वाले को महावीर पर बहुत क्रोध आया और उसने उनके कानों पर एक प्रकार का भयंकर आघात[1] किया। एक वैद्य ने उनके कानों को अच्छा किया, परन्तु जख्म इतना भयानक था कि अत्यंत धैर्यवान महावीर के मुँह से भी शस्त्र-क्रिया के समय चीख निकल पड़ी थी।

१—मूल में लिखा है कि कानों में खूँटियाँ लगा दीं। लेकिन इतना तो निश्चित है कि चोट सख्त की गई।

१०, बोध-प्राप्ति :

इस अंतिम उपसर्ग को सहने के बाद बारह वर्षों के कठोर तप के अंत में वैशाख सुदी १० के दिन जाम्भक नामक गाँव के पास एक वन में महावीर को ज्ञान प्राप्त हुआ और उनके चित्त को शांति मिली।

उपदेश

१. पहला उपदेश :

आम्भक गाँव से ही महावीर ने अपना उपदेश प्रारम्भ किया। कर्म से ही बंधन और मोक्ष होता है। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह—ये मोक्ष के साधन हैं, यह उनके पहले उपदेश का सार था।

२. दश सत् धर्म :

सब धर्मों का मूल दया है, परन्तु दया के पूर्ण उत्कर्ष के लिये क्षमा, नम्रता, सरलता, पवित्रता, संयम, संतोष, सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन दश धर्मों का सेवन करना चाहिये।

इनके कारण और लक्षण इस प्रकार :—(१) क्षमा-रहित मनुष्य दया का पालन अच्छी तरह नहीं कर सकता; इसलिए क्षमा करने में तत्पर मनुष्य धर्म की उत्तम रीति से साधना कर सकता है। (२) सभी सद्गुण विनय के वश में हैं और विनय नम्रता से आती है। इसलिए जो व्यक्ति नम्र है वह सर्वगुण सम्पन्न हो जाता है। (३) सरलता के बिना कोई व्यक्ति शुद्ध नहीं हो सकता। अशुद्ध जीव धर्म का पालन नहीं कर सकता। धर्म के बिना मोक्ष नहीं मिलता और मोक्ष के बिना सुख नहीं। (४) इसलिए सरलता के बिना पवित्रता नहीं और पवित्रता के बिना मोक्ष नहीं। (५–६)

विषय सुख के त्याग से जिन्होंने भय तथा राग-द्वेष का त्याग कर दिया हो, ऐसे त्यागी पुरुष निर्ग्रंथ (संयमी और संतोषी) कहलाते हैं। (७) चार प्रकारका सत्य यानी तन, मन और वचन की एकता रखना और पूर्वापर अविरुद्ध वचन का उच्चारण करना है। (८) उपवास, ऊनोदर (आहार में दो-चार कौर कम लेना) आजीविका का नियम, रस-त्याग, शीतोष्णादि को समवृत्ति से सहना और स्थिरासन रहना—ये छः बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, ध्यान, सेवा, विनय, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय—ये छः आभ्यंतर तप हैं। (९) मन, वचन, काया से सम्पूर्ण संयमपूर्वक रहना ब्रह्मचर्य है। (१०) निस्पृहता ही अपरिग्रह है। इन दश धर्मों के सेवन से अपने-आप भय, राग और द्वेष नष्ट होते हैं और ज्ञान की प्राप्ति होती है।

३. स्वाभाविक उन्नति पंथ :

शांत, दांत, व्रत, नियम में सावधान और विश्ववत्सल मोक्षार्थी मनुष्य निष्कपटता से जो-जो किया करता है, उससे गुणों की वृद्धि होती है। जिस पुरुष की श्रद्धा पवित्र है, उसको शुभ और अशुभ दोनों वस्तुएँ शुभ विचार के कारण शुभ रूप ही फल देती हैं।

४. अहिंसा परमोधर्मः

हे मुनि[1] जन्म और जरा के दुःख देखो। जिस प्रकार तुम्हें

१—मुनि अर्थात् विचारवान् पुरुष।

सुख प्रिय है वैसे ही सभी प्राणियों को सुख प्रिय है— ऐसा सोच-कर किसी भी प्राणी को न मारना, और न दूसरों से ही मरवाना। लोगों के दुःख को समझनेवाले सभी ज्ञानी पुरुषों ने मुनियों, गृहस्थों, रागियों, त्यागियों, भोगियों और योगियों को ऐसा पवित्र और शाश्वत धर्म बताया है कि किसी भी जीव की न हिंसा करना, न उसपर हुकूमत चलाना, न उसको अपने अधीन करना, और न परेशान करना चाहिए। पराक्रमी पुरुष संकट आने पर भी दया नहीं छोड़ते।

५. दारुणतम युद्ध :

हे मुनि ! अंतर में ही युद्ध कर। दूसरे बाह्य-युद्ध की क्या जरूरत है ? युद्ध की इतनी सामग्री मिलना बड़ा कठिन है।

६. विवेक ही सच्चा साथी :

यदि विवेक हो तो गाँव में रहने में भी धर्म रहता है और वन में रहने में भी। यदि विवेक न हो तो दोनों निवास अधर्म रूप हैं।

७. स्याद्वाद :

महावीर का स्याद्वाद तत्व-चिंतन में बहुत बड़ा अवदान माना जाता है। विचार में संतुलन रखना बड़ा कठिन है। बड़े-बड़े विचारक भी जब विचार करने बैठते हैं तब अपने पहले से बने हुए खयालों के आधार पर चलते हैं। वस्तुतः संसार के सभी व्यवहार सिद्धान्त, मर्यादा या अर्थ में ही सच्चे होते हैं। भिन्न मर्यादा या

अर्थ में उनसे विपरीत सिद्धान्त सच्चे हों, यह भी हो सकता है। उदाहरणस्वरूप "सभी जीव समान हैं" एक बड़ा व्यवहार्य सिद्धान्त है लेकिन उसपर अमल करने की कोशिश करते ही यह सिद्धान्त मर्यादित हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब ऐसी स्थिति आ जाय कि गर्भ और माता में से कोई भी एक बचाया जा सकता हो, समुद्री तूफान में यदि जहाज टूट जाय और आपद्कालीन नौकाएँ काफी न हों, तब यह प्रश्न उठे कि जितनी हैं उनका फायदा पहले लड़कों और स्त्रियों को उठाने देना या पुरुष को, भूख से मरता हुआ बाघ गाय को पकड़ने की तैयारी में हो, उस वक्त यह दुविधा पैदा हो कि गाय को छुड़ाना या नहीं— ऐसे सब प्रसङ्गों में सब जीव समान हैं—के सिद्धान्त का हम पालन नहीं कर सकते। बल्कि हमें इस तरह बरतना पड़ता है मानो सब जीवों में तारतम्य है, यह सिद्धान्त ही सही है लेकिन इसका अर्थ यह हुआ कि 'सर्व जीव समान हैं' यह सिद्धान्त अमुक मर्यादा और अर्थ में ही सच्चा है। यही बात अनेक सिद्धान्तों के बारे में भी कही जा सकती है।

८. आचार-विचार की मर्यादा :

लेकिन बहुत से विचारक और आचारक इस मर्यादा का अतिरेक करते हैं या मर्यादा को नहीं मानते हैं या स्वीकार करते हुए भी भूल जाते हैं। परिणामतः आचार और विचार में मतभेद या झगड़े होते हैं या फिर ऐसी रूढ़ियाँ स्थापित होती हैं, जिनकी तारीफ नहीं की जा सकती।

९. स्याद्वाद की दृष्टियाँ :

प्रत्येक विषय पर अनेक दृष्टि से विचार किया जा सकता है। सम्भव है कि वह एक दृष्टि से एक तरह का दिखाई दे और दूसरी दृष्टि से दूसरी तरह का और अिसलिए प्रत्येक सुज्ञ मनुष्य का यह कर्तव्य है कि प्रत्येक विषय की पूर्णरूपेण परीक्षा करे और प्रत्येक दिशा से उसकी मर्यादा का पता लगाए। किसी एक ही दृष्टि से खिंच कर वही एक मात्र सच्ची दृष्टि है, ऐसा आग्रह रखना संतुलन दृष्टि की अपरिपक्वता प्रकट करता है। दूसरे पक्ष की दृष्टि को समझने का प्रयत्न करना और उस पक्ष की दृष्टि का खंडन करने का हठ रखने की अपेक्षा किस दृष्टि से उसका कहना सच हो सकता है, यह शोधने का प्रयत्न करना संक्षेप में यही स्याद्वाद है, ऐसा मैं समझता हूँ, स्याद् अर्थात् 'ऐसा भी हो सकता है' इस विचार को अनुमोदन करनेवाला मत स्याद्-वाद है[1]। सत्यंशोधक में ऐसी वृत्ति का होना आवश्यक है।

१० स्याद्वाद की मर्यादा :

स्याद्वाद का अर्थ यह नहीं कि मनुष्य को किसी भी विषय के सम्बन्ध में किसी भी निश्चय पर पहुँचना ही नहीं, बल्कि वह तो

१—इसके विशेष विवेचन के लिए देखिए श्री नर्मदाशंकर देवशंकर मेहता का 'दर्शनों के अभ्यास में रखने योग्य मध्यस्थता' सम्बन्धी लेख (प्रस्थान, पु. द. पृष्ठ ३३१-३३८)

यह है कि मर्यादित सिद्धान्त को अमर्यादित समझने की भूल न करना तथा मर्यादा निश्चित करने का प्रयत्न करना।

११. ग्यारह गौतम :

महावीर के उपदेशों का बहुत प्रचार करनेवाले और इनकी अतिशय भक्ति-भाव से सेवा करनेवाले पहले ग्यारह शिष्य थे। वे सभी गौतम गोत्र के ब्राह्मण थे। ग्यारहों जन विद्वान् और बड़े-बड़े कुलों के अधिपति थे। सभी तपस्वी निरहंकारी और मुमुक्षु थे। वेदविहित कर्मकांड में प्रवीण थे। लेकिन उन्होंने यथार्थ ज्ञान से शांति नहीं पाई थी। महावीर ने उनके संशय मिटाकर उन्हें साधु की दीक्षा दी थी।

उत्तर काल

१. शिष्य शाखा :

महावीर ने जैन धर्म में नई चेतना डालकर उसकी पुनः प्रतिष्ठा की। उनके उपदेश से जनता पुनः जैन धर्म के प्रति आकृष्ट हुई। सारे देश में फिर से वैराग्य और अहिंसा का नया ज्वार चढ़ने लगा। बहुतेरे राजाओं, गृहस्थों और स्त्रियों ने संसार त्याग कर संन्यासधर्म ग्रहण किया। उनके उपदेश की बदौलत जैन धर्म में मांसाहार सदा के लिए बन्द हुआ। इतना ही नहीं, उसके कारण वैदिक धर्म में भी अहिंसा को परम धर्म माना गया और शाकाहार का सिद्धान्त वैष्णवों में बहुत अंश में स्वीकृत हुआ।

२. जमालि का मतभेद :

संसार का त्याग करने वालों में उनके जामाता जमालि और पुत्री प्रियदर्शना भी थी। आगे जाकर महावीर से मतभेद होने पर जमालि ने अलग पंथ स्थापित किया। कहा जाता है कि कौशाम्बी के राजा उदयन की माता मृगावती महावीर की परम-भक्त थी। बाद में वह जैन साध्वी हो गई थी। बुद्ध चरित्र में कहा गया है कि उदयन की पटरानी ने बुद्ध का अपमान करने की चेष्टा की थी। हो सकता है कि इस पर से जैनों और बौद्धों के बीच मतपंथ की ईर्षा के कारण झगड़े चलते रहे हों।

३. निर्वाण :

७२ वर्ष की उम्र तक महावीर ने धर्मोपदेश किया, उन्होंने जैन धर्म को नया रूप दिया। उनके समय में पार्श्वनाथ तीर्थंकर का सम्प्रदाय चल रहा था। आगे जाकर महावीर और पार्श्वनाथ के अनुयायियों ने अपने मतभेद मिटाकर जैन धर्म को एक रूप किया था और तब से सभी जैनों ने महावीर को अन्तिम तीर्थंकर के रूप में मान लिया। ७२ वें वर्ष में आश्विन (उत्तर हिन्दुस्तानी कार्तिक) बदी अमावस्या के दिन महावीर का निर्वाण हुआ।

४. जैन सम्प्रदाय :

महावीर के उपदेश का परिणाम उनके समय में कितना था, यह जानना कठिन है। परन्तु उस सम्प्रदाय ने अपनी नींव हिन्दुस्तान में स्थिर कर रक्खी है। एक समय वैदिकों और जैनों में भारी झगड़े होते थे। लेकिन आज दोनों सम्प्रदायों के बीच किसी प्रकार का वैर भाव नहीं है। इसका कारण यह है कि जैन धर्म के कितने ही तत्व वैदिकों ने—विशेष करके वैष्णव सम्प्रदाय और पौराणिकों ने—इस शान्ति से अपने में समा लिये हैं और इसी तरह जैनों ने भी देशकाल के अनुसार इतने वैदिक संस्कारों को स्वीकार कर लिया है कि दोनों धर्मों के मानने वालों के बीच प्रकृति या संस्कार का बहुत भेद अब नहीं रहा। आज तो जैनों को वैदिक बनाने की या वैदिकों को जैन बनाने की आवश्यकता भी नहीं है। और यदि ऐसा हो भी तो किसी दूसरे वातावरण में प्रवेश करने जैसा भी नहीं लगेगा। तत्वज्ञान समझाने के दोनों के अलग-अलग वाद हैं। लेकिन दोनों का अंतिम निश्चय एक ही प्रकार का है.

साथ ही साधन मार्ग भी। आज का वैदिक धर्म अधिकतर भक्ति मार्गी है। वही हाल जैन धर्म के हैं। इष्टदेव की अत्यन्त भक्ति द्वारा चित्त शुद्ध करके मनुष्यत्व के सभी उत्तम गुण सम्पादित कर और अन्त में उनका भी अभिमान त्यागकर आत्मस्वरूप में स्थिर रहना, यह दोनों का ध्येय है। दोनों धर्मों ने पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार करके ही अपनी जीवन-पद्धति रची है। सांसारिक व्यवहार में आज जैन और वैदिक दिन-दिन निकट सम्पर्क में आते जाते हैं। बहुतेरे स्थानों में दोनों में रोटी-बेटी व्यवहार भी होता है। फिर भी एक दूसरों में धर्म के विषय में अत्यन्त अज्ञान और गैरसमझ भी है। यह तो बहुत कम होता है कि जैन वैदिक धर्म, अवतार, वर्णाश्रम-व्यवस्था आदि के विषय में कुछ न जानता हो, लेकिन जैन धर्म के तत्त्व, तीर्थंकर इत्यादि को एक वैदिक का कुछ भी न जानना बहुत सामान्य है। यह वांछनीय स्थिति नहीं है। सर्व धर्मों और सब ग्रंथों का अवलोकन कर सर्व मतों एवं पंथों के बारे में निर्वैर वृत्ति रखकर, प्रत्येक में से सारासार का विचार कर सार को स्वीकार कर असार का त्याग करना यह प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक है। ऐसा कोई धर्म नहीं है, जिसमें सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य इत्यादि को स्वीकार न किया गया हो। ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जिसमें समय समय पर अशुद्धियों का प्रवेश न हुआ हो। अतः जैसे वर्णाश्रम-धर्म का पालन करते हुए भी मिथ्याभिमान रखना उचित नहीं है, वैसे ही अपने धर्म का अनुसरण करते हुए भी उसका मिथ्याभिमान त्याज्य ही है।

टिप्पणियाँ

१. मातृ-भक्ति :

ज्ञान और साधुता में श्रेष्ठ जगत के महापुरुषों के जीवन-चरित्र देखने से उनके अपने माता-पिता और गुरुजनों के प्रति असीम प्रेम की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। ऐसा देखने में नहीं आता कि बचपन में अत्यन्त प्रेम से माता-पिता और गुरु की सेवा करके आशीर्वाद प्राप्त नहीं करने वाले महापुरुष हो सके हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, एकनाथ, सहजानन्द स्वामी, निष्कुलानन्द आदि सब माता-पिता और गुरुजनों को देवता के समान समझने वाले थे। ये सब सत्पुरुष अत्यन्त वैराग्य-निष्ठ भी थे।

कई मानते हैं कि प्रेम और वैराग्य, दोनों परस्पर विरोधी वृत्तियाँ हैं। इस मान्यता के कितने ही भजन हिन्दुस्तान की भिन्न भिन्न भाषाओं में लिखे हुए मिलते हैं। इस मान्यता के जोश में सम्प्रदाय-प्रवर्तकों ने प्रेमवृत्ति को नष्ट करने का उपदेश भी कई बार किया है। 'माता-पिता झूठे हैं', 'कुटुम्बीजन सब स्वार्थ के सगे हैं' 'किसकी माँ और किसका पिता?' आदि प्रेमवृत्ति का नाश करने वाली उपदेश-धारा की अपने धर्म ग्रंथों में कमी नहीं है। इस उपदेश-धारा के प्रभाव से कई लोग प्रत्यक्ष-भक्ति को गौण मानकर परोक्ष अवतार अथवा काल्पनिक देवों की जड़-भक्ति

का महात्म्य मानकर अथवा भूखमरी वैराग्य भावना से प्रेरित होकर कुटुम्बियों के प्रति निष्ठुर बनते जाते हैं। यावज्जीवन सेवा करते करते प्राण छूट जायँ तब भी माता-पिता और गुरु-जनों के ऋण से कोई मुक्त नहीं हो सकता—ऐसे पूजनीय और पवित्र सम्बन्ध को पाप-रूप, बन्धनकारक अथवा स्वार्थ-पूर्ण मानना बड़ी से बड़ी भूल है। इस भूल ने हिन्दुस्तान के आध्यात्मिक मार्ग को भी चैतन्य-पूर्ण करने के बदले जड़ बना दिया है। महत्ता को प्राप्त किसी सन्त ने कभी ऐसी भूल यदि की हो, तो उसे भी इसमें से अलग होना पड़ा है—अपनी भूल सुधारनी पड़ी है। नैसर्गिक पूज्य भावना, वात्सल्य भावना, मित्रभावना आदि को स्वाभाविक सम्बन्धों में बताना, भूल से अशक्य हो जाने के कारण उन्हें कृत्रिम रीति से विकसित करना पड़ा है। इसीलिए किसी को देवी में, पाण्डुरंग में, बाल कृष्ण में, कन्हैया में, द्वारिकाधीश में, या दत्तात्रेय में मातृ-भाव, पुत्र-भाव, पति-भाव, मित्र-भाव या गुरु-भाव आरोपित करना पड़ा अथवा शिष्य पर पुत्र-भाव बढ़ाना पड़ा है; परन्तु इन भावनाओं के विकास के बिना तो किसी की उन्नति हुई नहीं है।

वैराग्य प्रेम का अभाव नहीं है; किन्तु, प्रेम-पात्र लोगों में से सुख की इच्छा का नाश है। उन्हें स्वार्थी समझकर उनका त्याग करने का भाव नहीं, किन्तु उनके सम्बन्ध के अपने स्वार्थों का त्याग और उन्हें सच्चा सुख पहुँचाने स्वयं की सम्पूर्ण शक्ति का व्यय है। प्राणियों के सम्बन्ध में वैराग्य भावना का यह लक्षण है।

लेकिन जड़ सृष्टि के प्रति वैराग्य का अर्थ है : इन्द्रियों के सुख में अनासक्ति। पाँचों विषय निजी सुख-दुख के कारण नहीं हैं। ऐसा समझ कर इस विषय में निस्पृह हुए बिना प्रेम-वृत्ति का विकास होना या आत्मोन्नति होना असम्भव है।

प्रेम तो हो, लेकिन उसमें विवेक न हो तो वह कष्टदायक हो जाता है। जिन पर प्रेम है, उन्हें सच्चा सुख पहुँचाने की इच्छा और फिर उसका भी कभी वियोग होगा ही—इस सत्य को जान-कर उसे स्वीकार करने की तैयारी और प्रेम होने पर भी दूसरे कर्त्तव्यों का पालन—ये विवेक की निशानियाँ हैं। ऐसे विवेक के अभाव में प्रेम मोह-रूप कहलाएगा।

२. वाद :

जो परिणाम हमें प्रत्यक्ष रूप में मालूम होते हैं, लेकिन उनके कारण अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्ण होने या किन्हीं दूसरे कारणों से प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निश्चित नहीं किये जा सकते, उन परिणामों को समझाने के लिए कारणों के बारे में जो कल्पनाएँ की जाती हैं, वे वाद (Hypothesis theory) कहलाते हैं। उदाहरणार्थ : हम रोज देखते हैं कि सूर्य की किरणें पृथ्वी तक आती हैं, यह परिणाम हम पर प्रत्यक्ष है। किन्तु ये किरणें करोड़ों मीलों का अन्तर काटकर हमारी आँखों से कैसे टकराती हैं, इतनी तेज किरणें प्रकाशवान वस्तु में ही न रहकर आगे कैसे बढ़ती हैं—इसका कारण हम प्रत्यक्ष रूप से नहीं जान सकते। लेकिन, कारण के बिना कार्य नहीं होता, यह विश्वास होने पर हम किसी भी कारण की कल्पना करने का

प्रयत्न करते हैं। जैसे किरण के बारे में 'ईथर' तत्त्व का आन्दोलन प्रकाश के अनुभव और विस्तार के कारण की कल्पना देता है। आन्दोलन की ऐसी कल्पना 'वाद' कही जाती है। ये आन्दोलन हैं ही, यह प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता। ऐसी कल्पना जितनी सरल और सब स्थूल परिणामों को समझाने में ठीक होती है, उतनी ही वह विशेष ग्राह्य होती है। परन्तु भिन्न-भिन्न विचारक जब भिन्न-भिन्न कल्पनाएं और वाद रचकर एक ही परिणाम को समझाते हैं, तब इन वादों में मतभेद पैदा हो जाता है। माया-वाद, पुनर्जन्म-वाद आदि ऐसे वाद हैं। ये जीवन और जगत को समझानेवाली कल्पनाएँ ही हैं, यह नहीं भूलना चाहिए। जिसकी बुद्धि में जो वाद रुचिकर हो उसे स्वीकार कर दोनों को समझ लेने में दोष नहीं है। लेकिन इस वाद को जब प्रमाणित वस्तु के रूप में स्वीकार किया जाता है, तब वाद-भेद के कारण झगड़े की प्रवृत्ति आ जाती है। धर्म के विषय में अनेक मत-पंथ अपने वाद को विशेष सयुक्तिक बताने में माथा-पच्ची करते रहते हैं। इतने से ही यदि वे रुक जाते तो ठीक होता; लेकिन जब उन वादों को सिद्धान्त के रूप में मानने पर उससे प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाले परिणामों से भिन्न परिणामों का तर्क-शास्त्र के नियमों से अनुमान निकालकर जीवन का ध्येय, धर्माचार की व्यवस्था, नीति-नियम, भोग तथा संयम की मर्यादाओं आदि की रचना की जाती है, तब तो कठिनाइयों का अन्त ही नहीं रहता।

जिज्ञासु को प्रारम्भ में कोई एक वाद स्वीकार तो करना ही पड़ता है, लेकिन उसे सिद्धांत मानकर अत्याग्रह नहीं रखना

चाहिए। जिस कल्पना पर स्थित होंगे, वैसा ही अनुभव भी होगा। चित्त में ऐसा आश्चर्य है। जो व्यक्ति अपने को राजा मानता है उसकी कल्पना इतनी दृढ़ हो जाती है कि वह अपने में राजापन का अनुभव करने लग जाता है। लेकिन कल्पना या वाद का यह साक्षात्कार सत्य का साक्षात्कार नहीं है। किसी वाद या कल्पना से भिन्न अनुभव ही सत्य है।

इस तरह विचार करने पर मालूम होगा कि मित्रता का सुख प्रत्यक्ष है, वैराग्य की शान्ति प्रत्यक्ष है, माता-पिता या गुरु की सेवा का शुभ परिणाम प्रत्यक्ष है, माता-पिता-गुरु आदि को कष्ट देने पर होनेवाली तिरस्कार-पात्रता प्रत्यक्ष है। ऐसा ही भगवान महावीर कहते हैं कि स्वर्ग-सुख परोक्ष है, मोक्ष (मृत्यु के पश्चात् जन्म-रहित अवस्था) सुख परोक्ष है, किन्तु प्रथम (निर्वासना और निस्पृहता) का सुख तो प्रत्यक्ष है।

बुद्ध और महावीर

(समालोचना)

बुद्ध और महावीर
(समालोचना)

१. जन्म-मरण से मुक्ति :

बुद्ध और महावीर आर्य-संतों की प्रकृति के दो भिन्न स्वरूप हैं। संसार में सुख-दुख का सबको जो अनुभव होता है, वह सत्कर्म और दुष्कर्म के परिणाम स्वरूप ही है, ऐसा स्पष्ट दीख पड़ता है। सुख-दुख के जिन कारणों को ढूँढा नहीं जा सकता, वे भी किसी काल में हुए कर्मों के ही परिणाम हो सकते हैं। मैं न था और न होऊँगा, ऐसा मुझे नहीं लगता। इस पर से इस जन्म के पहले मैं कहीं न कहीं था और मृत्यु के बाद भी मेरा अस्तित्व रहेगा, उस समय भी मैंने कर्म किए ही होंगे और वे ही मेरे अिस जन्म के सुख-दुख के कारण होने चाहिए। घड़ी का लोलक जिस तरह दायें-बायें झूलता रहता है, उसी तरह मैं जन्म और मरण के बीच झूलनेवाला जीव हूँ। कर्म की चाबी से इस लोलक को गति मिलती है और मिलती रहती है। जब तक चाबी भरी हुई है तब तक मैं इस फेरे से छूट नहीं सकता। अिस जन्म-मरण के फेरे की स्थिति दुःखकारक है। इसमें कभी-कभी सुख का अनुभव होता है, लेकिन वह अत्यंत क्षणिक होता है; इतना ही नहीं, बल्कि वही पुनः धक्का लगने में कारण रूप बनता है और उसका परिणाम दुःख ही है। मुझे इस दुःख के मार्ग से छूटना ही चाहिए। किसी भी तरह इस चाबी को बन्द करना ही चाहिए। इस तरह की विचार-धारा

से प्रेरणा पाकर कई आर्य-पुरुष जन्म-मरण के फेरे से छूटने के, मोक्ष प्राप्त करने के विविध प्रयत्न करते हैं। जैसे बने वैसे कर्म की बाकी को खत्म करने का ये प्रयत्न करते हैं। आर्यों में से कई एक मुमुक्षु-गण पुनर्जन्म-वाद से प्रेरित हो मोक्ष की खोज में लगे हैं। ऐसी खोज में जिन्हें जिस-जिस मार्ग से शांति मिली—जन्म-मरण का भय दूर हुआ, उन्होंने उस-उस मार्ग का प्रचार किया। इन मार्गों की खोज से अनेक प्रकार के दर्शन-शास्त्र पैदा हुए। महावीर जिसी प्रकार की प्रकृति का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

२. दुःख से मुक्ति :

बुद्ध की प्रकृति इससे भिन्न है। जन्म से पहले की और मृत्यु के बाद की स्थिति की चिंता करने की जिन्हें उत्सुकता नहीं है। यदि जन्म दुःख रूप हो तो भी जिस जन्म के दुःख तो सहन कर लिए गए। पुनर्जन्म होगा तो इस जन्म के सुकृत और दुष्कृत के अनुसार आवेगा इसलिए यही जन्म भावी जन्म का कहिए या मोक्ष का कहिए, सबका आधार है। इस जन्म को सुधारने पर भावी जन्मों की चिंता करने की कोई जरूरत नहीं। क्योंकि इस जन्म को सुधारनेवाले का दूसरा जन्म यदि इससे बुरा आवे तब तो यही कहना होगा कि सत्कर्म का फल दुःख है। यह माना नहीं जा सकता। अतः इस जीवन के पाँच दुःख ही अनिवार्य रूप से शेष रहते हैं : जरा, व्याधि, मृत्यु, इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग। इसके अतिरिक्त तृष्णा के कारण भी सुख-दुःख भोगने में आते हैं। यदि खोज करने जैसा कुछ हो तो इन दुःखों से छूटने का मार्ग हो

सकता है। जगत की सेवा करनी हो तो इसी विषय में करनी चाहिए। इन विचारों से प्रेरणा लेकर इन दुःखों की दवाई या इलाज खोजने के लिए वे निकल पड़े कि इन दुःखों से मुक्त होऊँ और संसार को छुड़ाकर सुखी करूँ। दीर्घ काल तक प्रयत्न करने पर उन्होंने देखा कि पहले पाँच दुःख अनिवार्य हैं। उन्हें सहन करने के लिए मन को बलवान किए बिना दूसरा कोई मार्ग नहीं हो सकता; लेकिन दूसरे दुःखों का, उनका तृष्णा से पैदा होने के कारण नाश करना संभव है। यदि दूसरा जन्म लेना पड़ा तो तृष्णा के कारण ही लेना पड़ेगा। मन के चिंतन को सदा के लिए रोका नहीं जा सकता। सद्विषय में न लगने पर वह वासनाओं को एकत्र किया करेगा। इसलिए उसे सद्विषय में लगाए रखने का प्रयत्न करना चाहिए, यही पुरुषार्थ है। इससे सात्विक वृत्ति का सुख और शांति प्रत्यक्ष रूप से मिलेगी; दूसरे प्राणियों को सुख मिलेगा; मन तृष्णा में नहीं दौड़ेगा और उससे संसार की सेवा होगी। तृष्णा ही पुनर्जन्म का कारण है, यदि यह बात सत्य है तो मन के वासना-रहित हो जाने पर पुनर्जन्म का डर मानने की जरूरत नहीं रहती। 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' यह बात ठीक हो तो भी सद्विषयों में लगे हुए मन को चिंता करने की जरूरत नहीं है। इस जन्म में जो पाँच अनिवार्य दुःख हैं उनके अतिरिक्त छठवाँ कोई दुःख दूसरे जन्म में आनेवाला नहीं है। इन दुःखों को सहन करने की आज यदि तैयारी हो तो फिर दूसरे जन्म में भी सहन करने पड़ेंगे, इस चिंता से घबराने की जरूरत नहीं। इसलिए जन्म-मरण आदि दुःखों का भय छोड़कर मन को शुभ प्रवृत्ति और शुभ विचार आदि में लगा

देना यह शांति का निश्चित मार्ग है। इसी मार्ग को विशेष विस्तार पूर्वक समझा कर बुद्ध ने आर्य-अष्टांगिक मार्ग का उपदेश किया।

३. इच्छावाले ही दुखी हैं :

जो सुख की इच्छा करते हैं वे ही दुःखी हैं। जो स्वर्ग की वासना रखते हैं, वे ही निष्कारण नरक-यातना भोगते हैं। जो मोक्ष की वासना रखते हैं, वे ही अपने आपको बद्ध पाते हैं। जो दुःख का स्वागत करने को हमेशा तैयार हैं, वे सदा ही शांत हैं। जो सतत सद्विचार और सत्कार्य में तल्लीन हैं, ऐसे के लिए यह जन्म आया या दूसरे हजारों जन्म आवें तो भी क्या चिंता? न वह पुनर्जन्म की इच्छा रखता है और न उससे डरता ही है। जो सुखी प्राणियों के प्रति सदा मैत्री-भाव और दुखियों के प्रति करुणा रखता है, पुण्यात्मा को देख आनंदित होता है, और पापियों को सुधार भी न सके तो उनके लिए कम-से-कम दया-भाव या अहिंसा वृत्ति रखता है, उसके लिए संसार में भयानक क्या है? उसका जीवन संसार के लिए भार-रूप कैसे सम्भव हो सकता है? इतने पर भी किसी के मन में उसके प्रति मत्सर भावना पैदा हो तो वह उसे व्याधि, मरण, इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग के अतिरिक्त दूसरा कौन-सा दुःख दे सकता है? विचारों की इसी कोई भूमिका पर दृढ़ होकर बुद्ध तथा महावीर ने शांति प्राप्त की।

४. सत्यकी जिज्ञासा :

इन दोनों प्रयत्नों में सत्यान्वेषण की आवश्यकता होती ही है। जगत का सत्य-तत्त्व क्या है? 'मैं-मैं' द्वारा इस देह के भीतर

जो भान हुआ करता है, वह 'मैं' कौन हूँ ? क्या हूँ ? कैसा हूँ ? यह जगत क्या है ? मेरा और जगत का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? ऊपर लिखी दो प्रकृतियों के अलावा एक तीसरी प्रकृति के कितने ही आर्यों ने सत्य-तत्त्व की खोज का प्रयत्न किया; लेकिन जिस प्रकार बीज को जानने से वृक्ष का पूरा ज्ञान नहीं होता अथवा वृक्ष को जानने से बीज का अनुमान नहीं होता; उसी प्रकार केवल अंतिम सत्य-तत्त्व को जानने से सच्ची शांति प्राप्त नहीं होती और ऊपर उल्लिखित (बुद्ध महावीर की) भूमिका पर आरूढ़ होने के बाद भी सत्य तत्त्व की जिज्ञासा रह जाय तो उससे भी अशांति रह जाती है। सत्य को जानने के बाद भी अंत में ऊपरवाली भूमिका पर दृढ़ होना पड़ता है अथवा उस भूमिका पर दृढ़ होने के बाद भी सत्य की शोध बाकी रह जाती है। लेकिन जैसे वृक्ष को जाननेवाले मनुष्य को बीज की शोध के लिए केवल फल की ऋतु आने तक के समय की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, वैसे बुद्ध—महावीर की भूमिका पर पहुँचे हुए के लिए सत्य दूर नहीं है।

५. निश्चित भूमिका :

जन्म-मृत्यु के फेरे से मुक्ति चाहने वाले को, हर्ष-शोक से मुक्ति चाहनेवाले को, आत्मा की शोध करनेवाले को—सबको—अन्त में, व्यावहारिक जीवन में ऊपर की भूमिका पर आना ही पड़ता है। चित्त की शुद्धि, निरहंकार, समस्त वादों-कल्पनाओं में अनाग्रह, शारीरिक-मानसिक या किसी भी प्रकार के सुख में,

निस्पृहा, दूसरों पर नैतिक सत्ता चलाने तक की अनिच्छा, जो छोड़ी नहीं जा सकती, ऐसी अपने अधीन रही हुई वस्तु का दूसरे के लिए अर्पण, यही शान्ति का मार्ग है, इसी में जगत की सेवा है, प्राणी-मात्र का सुख है, यही उत्कर्ष का उपाय है। जैसे किसी से कहें कि इस-इस रास्ते चले चलो, जहाँ यह रास्ता पूरा होगा, वहाँ वह अपने निश्चित स्थान पर पहुँच जायगा, वैसे ही इस मार्ग पर जाने वाला सत्य-तत्त्व के पास आ खड़ा रहेगा। अगर कुछ बाकी रहे तो वहाँ के किसी निवासी को पूछ कर विश्वास भर कर लेवे कि सत्य-तत्त्व यही है या नहीं ?

६. बुद्ध प्रकृति की विरलता :

लेकिन ऐसे विचारों को जगत पचा नहीं सकता। वादों की या परोक्ष की पूजा में प्रविष्ट हुए बिना, ऐहिक या पारलौकिक किसी भी प्रकार के सुख की आशा के बिना, विरले मनुष्य ही सत्य, सदाचार और सद्विचार को लक्ष्य कर उसकी उपासना करते हैं। वादों, पूजाओं और आशाओं के ये संस्कार इतने बलवान हो जाते हैं कि बुद्धि को इनके बन्धन से मुक्त करने के पश्चात् भी व्यवहार में इनका बन्धन नहीं छोड़ा जा सकता और ऐसे आदमी का व्यवहार जगत के लिए दृष्टान्त रूप होने से, इन संस्कारों को जगत और भी दृढ़ता पूर्वक अपनाए रहता है।

७. बुद्ध-तीर्थंकरवाद और अवतारवाद :

ब्राह्मण धर्म में चौबीस या दस अवतारों, बौद्धों में चौबीस बुद्धों और जैनों में चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता पोषित हुई है।

यह मान्यता सर्वप्रथम किसने उत्पन्न की, यह जानना कठिन है। लेकिन अवतारवाद तथा बुद्ध-तीर्थंकरवाद में एक भेद है। बुद्ध या तीर्थंकर के तरीके से ख्याति प्राप्त करनेवाले पुरुष जन्म से ही पूर्ण ईश्वर या मुक्त होते हैं, यह नहीं माना गया। अनेक जन्मों से साधना करते-करते आया हुआ जीव अन्त में पूर्णता की चरम सीढ़ी पर पहुँच जाता है। और जिस जन्म में इस सीढ़ी पर पहुँचता है, उस जन्म में वह बुद्धत्व या तीर्थंकरत्व को पाता है। अवतार में जीवपने की या साधक अवस्था की मान्यता नहीं है। वह तो पहले से ही ईश्वर या मुक्त है और किसी कार्य को करने के लिए इरादा-पूर्वक जन्म लेता है, ऐसी कल्पना है। इससे, वह जीव नहीं माना जाता, मनुष्य नहीं माना जाता। यह कल्पना भ्रम उत्पन्न करनेवाली साबित हुई है और इसका चेप थोड़े बहुत अंशों में, बौद्ध और जैन धर्मों को भी लगा है। इस तरह बुद्ध और महावीर के अनुयायी भी वाद तथा परोक्ष देवों की पूजा में फँस गए हैं और जैसे संसार चल रहा था वैसा ही चल रहा है।*

---

* यह सब सर्व प्रकार की भक्ति के प्रति आदर कम करने के आशय से नहीं लिखा गया है। अपने जैसे सामान्य मनुष्यों के लिए परावलम्बन से स्वावलबन की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर जाने का क्रममार्ग ही हो सकता है; लेकिन ध्येय स्वावलम्बन, सत्य और ज्ञान तक पहुँचने का होना चाहिए और भक्ति का उद्देश्य चित्त-शुद्धि है, यह नहीं भूलना चाहिए।

(शेष पृष्ठ १०९ पर देखें)

पूर्व काल में हुए अवतार पुरुष हमारे लिए दीप-गृह के समान हैं। इन की भक्ति का अर्थ है, इनके चरित्र का ध्यान। इनकी भक्ति का निषेध हो ही नहीं सकता, परन्तु अवतार जितने प्राचीन होते हैं, उतना ही उनका माहात्म्य अधिक बढ़ता जाता है। यहीं भूल होती है। अपने समय के सन्त-पुरुषों की खोज करके उनकी महिमा को समझने की बुद्धि हममें होनी चाहिए। जगत जिस तरह असुर-रहित नहीं है, उसी तरह सन्त-रहित भी नहीं है।

अहिंसा के नए पहाड़े
महावीर का जीवन-धर्म

कि. घ. मशरूवाला

[पहला भाषण पर्यूषण के उपलक्ष्यमें और दूसरा महावीर जयन्ती के अवसर पर दिया गया है। उपयोगी होने से लेखक की अनुमति-पूर्वक यहाँ उनका हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है।]

अहिंसा के नये पहाड़े

१. अहिंसा के ट्रस्टी :

दुनिया के महान् धर्मोंमें से जैनोंने अपने आपको अहिंसा के खास संरक्षक (ट्रस्टी) माना है। अहिंसा के कुछ अंगोंका—खासकर खान-पान के क्षेत्र में—उन्होंने बड़े जतन से पोषण किया है और अपनी वृत्तियों को इतना कोमल बना लिया है कि वे किसी जीव के रक्तपात की कल्पना भी नहीं सह सकते। सैकड़ों वर्षों के संस्कारों के कारण अहिंसा के लिए उनके दिलमें उत्कट आदर है और अब उन्हें दलीलें देकर यह समझाने की जरूरत नहीं रही है कि अहिंसा ही परम धर्म है।

२. विपरीत धारणा :

दुनिया में, और हिन्दुओं में भी, ऐसी कई जातियाँ हैं जो कहती हैं कि "अहिंसा हमारे समझ में नहीं आती, वह मनुष्य-स्वभाव के विरुद्ध है, वह आत्मघातक सिद्धान्त है। वह शारीरिक दुर्बलता और मानसिक कायरता को बढ़ानेवाली है, उसका अतिरेक हो गया है;" इत्यादि इत्यादि।

३. नई पीढ़ी और हिंसा :

अहिंसा की तरफ झुकाव होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि जैनोंपर—खासकर जैनों की नई पीढ़ीपर—इस विचार का असर ही नहीं हुआ है। मैं समझता हूँ कि जैनियों की नई पीढ़ी के विचार में "अहिंसा परम धर्म तो है; परन्तु हिंसा के लिए भी कुछ स्थान तो होना ही चाहिए। या फिर मुनियों के लिए अहिंसा की एक मर्यादा होनी चाहिए और संसारी व्यक्तियोंके लिए दूसरी होनी चाहिए। खान-पान के क्षेत्र में भी अहिंसा की पुरानी मर्यादा निबाहना अब असम्भव है।" कई जैनों के अब ऐसे विचार हो गये होंगे। उदाहरण के लिए, जैन डॉक्टर और बीमार होनेवाले कभी जैन व्यक्ति कॉड-लिवर, लिवर तथा दूसरे मांस-जन्य पदार्थों और वैक्सिन, अण्डे आदि का उपयोग करने लगे होंगे। उनका दिल इतना कड़ा तो हो ही गया होगा। युद्ध जैसे विषयों में जैनियों में, और उन लोगों में जिन्होंने अहिंसा का वरण नहीं किया है, बहुत विचार-भेद होगा, इसमें सन्देह है। दंगा-फसाद या शत्रु की चढ़ाई का सामना भी अहिंसा ही से करने की गांधीजी की सूचना दूसरे लोगोंकी तरह जैनियों को भी अव्यवहार्य और अहिंसा की एकांगी साधनासे जन्मे हुए खब्त के जैसी मालूम होती हो, तो आश्चर्य नहीं। जैन ग्रन्थों में से युद्ध-धर्म के लिए अनुकूल प्रमाण भी खोज-खोजकर पेश किये जाते हैं।

४. ऐसी स्थिति में अहिंसा का नए सिरे से और जड़-मूल से पुनःविचार करनेकी हम सबको आवश्यकता है। आजतक जिन

लीकों में चलकर हम अहिंसा धर्म का विचार और आचार करते आये हैं उन लीकों से निकलकर स्वतंत्र दृष्टि से विचार और उसके अनुरूप आचार की खोज करने की जरूरत है।

५. हिंसा-अहिंसा की आँच :

इस जमाने में हिंसा-अहिंसा के प्रश्न की जाँच विशेष कर मनुष्यों के परस्पर-व्यवहार के क्षेत्र में करना जरूरी है। मनुष्यों का परस्पर-व्यवहार हिंसात्मक, असत्यपूर्ण और अशुद्ध रहे और केवल गूँगे प्राणियों के प्रति व्यवहार तक ही हम अपनी अहिंसा सीमित रक्खें, तो उसमें तारतम्य-भंग का दोष होता है। गांधीजी ने आज जिस अहिंसा की साधना का आरम्भ किया है, उसका क्षेत्र मनुष्यों का परस्पर-व्यवहार है।

६. अस्वस्थ मनुष्य-समाज :

सारी दुनिया का मनुष्य-समाज अस्वस्थ (बेचैन) हो रहा है। अिस अस्वस्थता का कारण प्रकृति का कोअी महान् कोप नहीं है। शेर या सिंह आदि जंगली जानवरों का उपद्रव एकाएक बढ़ गया हो, ऐसी भी कोई बात नहीं है। वरन् मनुष्य-मनुष्य के परस्पर-व्यवहार के कारण ही आज यह परेशानी है। मनुष्य ही मनुष्य को मारता है, यंत्रणाएँ देता है और अनेक प्रकार से पीड़ा देता है; और इसलिए आज सारा मनुष्य-समाज बड़े भारी संकट में आ गया है।

७. शोषण की आग :

युद्ध का दावानल तो सभी प्रत्यक्ष देख रहे हैं। परन्तु इस दावानल के नीचे शोषण की आग धधक रही है। अनेक छोटे मनुष्यों को चूसकर एक बड़ा मनुष्य बनता है और अनेक निर्बल प्रजाओं को चूसकर एक बलवान प्रजा हो जाती है तब वे ईर्षा के कारण एक-दूसरे का खून बहाने पर उतारू हो जाती हैं। खून बहाने में भी शोषक प्रजा का अपना खून नहीं बहाया जाता, किन्तु छोटे-छोटे दुर्बल लोगों का ही संहार होता है। यदि हम इस भयंकर हिंसा को रोक न सके, तो उबाला हुआ और सौ बार छना हुआ जन्तुहीन पानी और सब प्रकारके संकल्प छोड़ कर के प्राप्त किया हुआ आहार और पूरी तरह सावधानी से किया हुआ भोजन भी हमारी अहिंसा को तेजस्वी नहीं बना सकता।

८. इसलिए हमें अहिंसा का विचार करने की दिशा ही बदल देनी चाहिए। युद्धों की हिंसा बन्द करनेका मार्ग हमें सिद्ध करना ही चाहिए।

९. युद्ध की स्पर्धा व्यापार :

जिस युगके युद्धों का विचार करने से मालूम होगा कि आज के युद्धों के पीछे "तेरे राज्य से मैं अपना राज्य बढ़ाकर दिखाऊँगा," यह पुराने जमाने के राजाओं की व्यक्तिगत स्पर्धा नहीं है; बल्कि "तुम्हारे व्यापार से हमारा व्यापार बड़ा है," यह प्रजाकीय स्पर्धा है। हरएक व्यापारी और व्यापारी-जाति की यही मुराद है कि

जितनी तरह के कारखाने खोले जा सकें उतने खोले, जितने उद्योग बढ़ाये जा सके उतने बढ़ाये, और सारी दुनिया में अपने ही माल की खपत कराये। हरएक ने एक एक बाजार पर कब्जा कर लिया है। यह कहना गलत न होगा कि आज हरएक साम्राज्य इस प्रकार के व्यापारियों का संगठन है। प्रत्यक्ष लड़ाई भी इस तरह व्यापार का ही एक विषय हो रही है। कारण लड़ाई का साज-सरंजाम भी उद्योग और कारखाने की ही चीज है और उसके ज़रिये भी बाजारोंपर कब्जा किया जा सकता है। जंगी हवाई जहाज, मोटरें, टैंक, बस आदि सारी चीजें व्यापार के विषय हैं। उनकी खपत में व्यापारी का फायदा है। इसलिए लड़ाई शुरू होने से और जारी रहने से भी व्यापारी को खुशी होती है। उसे ऐसा मालूम होता है कि अच्छी कमाई का मौका हाथ लगा।

१०. शान्ति के उपासक ही हिंसक :

इस दृष्टि से देखने से मालूम होगा कि आज की हिंसा के पाप के लिये प्रत्यक्ष लड़ाई में लड़नेवाले सिपाहियों की अपेक्षा व्यापारी ही अधिक जिम्मेवार हैं। फिर भी आश्चर्य तो यह है कि व्यापारी हमेशा ही स्वभाव से शांति-प्रिय माने जाते हैं। उन्हें रक्तपात, मारपीट आदि बिलकुल नहीं भाती। और फिर हमारे देश में तो व्यापारी अधिकतर जैन, वैष्णव या पारसी होते हैं। तीनों शांति के उपासक हैं। जैन और वैष्णव तो 'अहिंसा परम धर्म' की माला जपने वाले हैं।

११. व्यापार में सुधार :

इसका सीधा अर्थ यह है कि मनुष्य-जाति को अपना व्यापार दुरुस्त करना है। झूठा—हिंसामय, अधर्ममय व्यापार समेट कर सच्चा—अहिंसा का, धर्म का—व्यापार शुरू करना उचित है। जिन उद्योग—व्यापारों से लाभ की मात्रा बहुत बढ़ती है, छोटे व्यक्ति और निर्बल प्रजा का शोषण होता है और लड़ाई छिड़ेया चलती रहे तो अच्छा, ऐसी इच्छा होती है, उन उद्योग-व्यापारों को बंद कर देना चाहिये।

१२. एक आदमी एक ही धंधा करे :

एक ही मनुष्य का अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे करना अधर्म है। मनुष्य अपने निर्वाह के लिए कोई भी एक धंधा खोज ले। अपनी सारी शक्ति और पूंजी उसी में लगा दे। परन्तु एक ही व्यक्ति का जवाहिरात, कपड़ा, लोहा, तेल का कोल्हू, मोटर और अन्य सवारियाँ आदि सब प्रकारके उद्योग करना बिना अधर्म-कर्म के नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें लोभ की कोई मर्यादा नहीं है। और जहाँ लोभ है वहाँ अहिंसा सम्भव नहीं है।

१३. रुपया बांझ है :

सच तो यह है कि रुपया बांझ है। एक रुपया सौ वर्ष तक रख दीजिये, तो भी उस रुपये से दो अन्नियाँ भी पैदा नहीं होंगीं। यदि उस रुपये का उपयोग हम न कर सके और वह दूसरे के हाथ में चला गया, तो भी उसमें उससे दो अन्नियाँ पैदा करने की

सिफत नहीं आएगी। लेकिन उस रुपये के बीज खरीद कर उसे बोयें या कपास लाकर उसपर मेहनत करके उसे कातें या बुनें या कच्चा माल खरीद कर उसमें से कोई उपयोगी पदार्थ बनावें, तो उस मेहनत की कीमत दो आने या चार आने आ सकती है। यह रुपया हमारा अपना माना जाता है, इसलिए हम उसपर ब्याज माँगते हैं। इसका यह मतलब हुआ कि व्याज देनेवाला अपनी दो आनेकी मेहनत में से थोड़ा-सा हिस्सा हमें दे देता है। हम खुद किसी प्रकार का उद्यम करने के लिए अपने रुपये का अिस्तेमाल नहीं करते या करने की इच्छा नही रखते। कोई मेहनत-मजदूरी करनेवाला किसान, बुनकर, कारीगर आदि न हो, तो हमारा रुपया हमारी तिजोरी में पड़ा रहेगा। राजा या चोर अगर उसे लूट न ले या हमें उसका दान करने की सद्बुद्धि न हो, अथवा हमारे घर में कोई उड़ाऊ लड़का पैदा न हो तो हमारे पुत्र की विधवा और सारे कुल के नाश के बाद रही हुअी कोई विधवा शायद उसे भँजाकर दुःख की घड़ी में उपयोग कर सकेगी। लेकिन बिना भँजाये यह रुपया यदि सौ वर्ष तक तिजोरी में भी पड़ा रहे तो भी उसके सवासोलह आने भी नहीं होंगे; बल्कि राज्य में परिवर्तन होने से उसकी कीमत घट जाने का सम्भव अलबत्ता रहेगा।

१४. रुपये का उपयोग :

सच पूछिये तो हम अपना रुपया उपजाऊ काम में न लगा सकें और इस कारण वह पड़ा रहे और लुट जाने या चुराये जाने

का डर पैदा करे, उससे बेहतर यह है कि कोई उद्योगी और ईमानदार कारीगर उसका उपयोग करे और हमें जब जरूरत हो तब लौटा देने का वादा करे। यह हमारे लाभ की बात होगी। रुपये की रखवाली के लिये वह थोड़ा-सा किराया माँगे याने सोलह आने की जगह पन्द्रह या साढ़े पन्द्रह आने ही लौटाने का वादा करे तो भी अनुचित नहीं कहा जा सकता। किसी जमाने में ऐसा होता भी था। बड़े-बड़े सराफों के यहाँ कोई अमानत रकम रक्खे, तो उसका व्याज देनेके बदले रखवाली के लिए वे बट्टा लेते थे। आज भी कई संस्थाएँ छोटी-छोटी अमानतों पर व्याज नहीं देतीं और गहने-बरतन सम्हालने के लिए मेहनताना लेती हैं। कारण यह है कि पैसे, जेवर वगैरह कीमती मानी जानेवाली चीजें यदि भँजाकर काम में न लायी जायँ और केवल सम्हालनी ही पड़ें तो वह एक जञ्जाल ही समझा जायगा। ऐसा जञ्जाल स्वीकार करनेवाला अपना मेहनताना ले लें, तो कोई ताज्जुब नहीं है। परंतु आज तो आर्थिक रचना की विचित्र कल्पनाओं के कारण जो व्यक्ति हमारे पूँजी की हिफाजत करता है और उसका उपयोग करता है, वह हम से किराया मांगने के बदले मानो उसका उपकार कर रहे हैं, ऐसी भावना से हमें व्याज देता है। अगर सारा दिन मेहनत करके वह रुपये के माल में अठारह आने की चीज बना ले, तो ऊपर के आनों में से हमें घर बैठे कुछ हिस्सा दे देता है। और हलके-हलके यह व्याज इस तरह बढ़ता जाता है कि मेहनत-मशक्कत करनेवाले को तो एक जून का भोजन भी नहीं मिल सकता, लेकिन हमें आलीशान मकान, बँगला और शहर के सारे शौक प्राप्त होते हैं।

१४. व्याज और मुनाफा :

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी : बम्बई के किसी फर्निचर बनानेवाले बढ़ई का उदाहरण लीजिए। अिसमें मुख्य चीजें तो लकड़ी, पालिश आदि थोड़ा-सा माल और बढ़ई की मेहनत इतनी ही हैं। लेकिन बढ़ई को औज़ार चाहिए, माल रखने के लिए दूकान चाहिए और जबतक माल बिकता नहीं है, तबतक खाने के लिए खुराक चाहिए। उसके पास औजारों के लिए पैसा नहीं है। हम अपने बचे हुए पैसे में से उसे व्याज पर पैसे देते हैं। उसके पास लकड़ी वगैरह खरीदने के लिए भी पैसे नहीं हैं। उसके लिये भी हम उसको व्याजपर पैसे देते हैं। माल रखने के लिये उसके पास दूकान नहीं है। हम अपने मकान का खाली हिस्सा उसे किराये पर दे देते हैं। जबतक माल नहीं बिकता, तबतक के लिये उसके पास खाने-पीने का सामान नहीं है। हम उसे व्याज पर पैसे देते हैं। बाद में एक रुपये की लकड़ी वगैरह पर सारा दिन मेहनत करके वह एक कुर्सी बनाता है। हमारे पास अभी बहुत-सा पैसा बाकी है अिसलिये हमारा जी कुर्सी खरीदने को चाहता है और हम उसकी पाँच रुपये कीमत देने के लिये भी तैयार हो जाते हैं। अर्थात् एक रुपये के माल पर चार रुपये की मेहनत की गई, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु हम यह जानते हैं कि बढ़ई को सवा या डेढ़ रुपये से ज्यादा रोजी नहीं पड़ती। तब बाकी के ढाई या पौने तीन रुपये किसे मिले ? स्पष्ट है कि वह सूद, दूकान किराया, खाने-पीने के सामान पर नफा आदि के रूप में हमें वापस मिले। इसका यह अर्थ हुआ कि बढ़ई अगर चार रुपये की मेहनत करे, तो उसमें से पौन

हिस्सा उसे बैठे-ठाले साथीदारों को देना पड़ता है। और फिर इन साथीदारों का हिस्सा सिर्फ नफे में ही होता है, नुकसान में नहीं।

१५. हम इस आर्थिक व्यवस्था के इतने आदी हो गये हैं कि इसमें नामुनासिब क्या है, यही हममें से बहुतेरों के ध्यान में नहीं आता। लेकिन यदि हम सीधा विचार करें तो हमें विदित होगा कि सोने-चाँदी का सिक्का स्वयं बाँझ है। उसमें नफा पैदा करने की शक्ति नहीं है। जो अधिक कीमत मिलती है वह मजदूर की मेहनत की है। इसलिए व्याज के मानी हैं कारीगर या मजदूर की मेहनत में से लिया जानेवाला हिस्सा। अगर यह हिस्सा इतना बड़ा हो कि हम उसकी बदौलत ऐश-आराम में रह सकें और मेहनत करनेवालों को हमेशा तंगी में रहना पड़े, तो उस व्यवस्था में हिंसा होनी ही चाहिए।

१६. इक्केवाले के घोड़े को सिर्फ खुराक ही मिल सकती है। दिन भर की कमाई चाहे एक रुपया हो या दस रुपया हो, उसके हिस्से में कोई फर्क नहीं पड़ता। उसी तरह हमारे देश में मेहनत-मजदूरी करनेवालों को कोरी खुराक ही मिल सकती है। अच्छी फसल या बाजार की तेजी का उसे कोई लाभ नहीं मिलता।

१७. व्यापार का यदि यह आवश्यक लक्षण या परिणाम हो, तो वह व्यापार उस व्यापार को निबाहनेवाली सामाजिक तथा राजकीय व्यवस्था और आन्तर्राष्ट्रीय नीति तथा देश-रक्षा की सामग्री, इन सबको हिंसा की ही परम्परा कहना होगा।

१८. नए पहाड़े :

ये अहिंसा के नये गुरू या पहाड़े हैं। हमें अपने व्यापार में इनके आधार पर हिसाब करना सीखना चाहिए। अगर मनुष्य-समाज के व्यवहार में हमने इन्हें दाखिल नहीं किया तो छोटे-छोटे जीवों की रक्षा की जो हम चिन्ता करते हैं वह, और हमारी सारी दान-वृत्ति अहिंसा का मजाक हो सकता है। कोई ऐसा न समझे कि मैं जीवदया को निकम्मी चीज समझता हूँ। वह भी आवश्यक है। उसके लिए जो कुछ किया जा रहा है, उसमें कुछ संशोधन की जरूरत भले ही हो, लेकिन जो कुछ किया जा रहा है, उसे कम करनेकी सिफारिश नहीं करता। परन्तु मनुष्यों के परस्पर व्यवहार में अहिंसा दाखिल करने की जरूरत इसकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व की है।

इस दृष्टिसे निम्न प्रकार के व्यक्तिगत निश्चय किये जा सकते हैं :

१. मनुष्य की हिंसा करनेवाली प्रवृत्तियों या व्यापारों में अपना निजी या धर्मादाय का पैसा न लगाना।

२. किसी भी व्यापार में मूलधन पर जिससे दो या ढाई प्रतिशत से अधिक व्याज मिले इतना नफा न लेना।

३. सट्टा और जुआ समान मानना।

४. शरीर-परिश्रम करनेवाले व्यक्ति को कर्ज देनेका मौका आवे तो बम्बई जैसे बड़े शहर में जबतक वह कम-से-कम डेढ़-दो रुपया रोज कमाई न कर सके तबतक उससे व्याज न लेना।

५. अपनी मासिक कमाई की एक मध्यम मर्यादा बनाकर उससे अधिक कमाई न करना। अधिक कमाई न होती हो, तो शेष सारी रकम सार्वजनिक हित के कामों में अथवा मेहनत-मजदूरी करनेवाले वर्गों को स्वावलंबी बनाने में इस्तेमाल करना।

६. दान या धर्मादाय का पैसा सेत सेत कर न रखना। उसे बढ़ाने के बदले खर्च कर डालने का प्रयत्न करना।

७. नौकर-चाकर तथा मजदूर-कारीगरों को पूरा और उदारता से पारिश्रमिक देना, भले-बुरे मौकोंपर उनकी मदद करना और अपने भोग-विलास कम करके उनकी हाजतें पूरी करना।

८. हमारे पास काफी पैसा हो तो भी भोग-विलास कम करना तथा सादगी और संयम से रहना। अपने भोग-विलास और व्यक्तिगत खर्च द्वारा पैसे की इफरात दिखाने में बड़प्पन न मानना।

९. जहाँतक हो सके, अपनी जरूरत की सारी चीजें सीधे उन्हें बनानेवाले कारीगरों से खरीदना, उन्हें मजदूरी से रखनेवाले व्यापारियों या कारखानेवालों से नहीं। अर्थात् मिल का कपड़ा या बड़े-बड़े कारखानों में बनने वाला माल न बरतकर खादी, ग्राम-उद्योग और दस्तकारियों को उत्तेजन देना।

इस प्रकार यदि हम अपना-अपना व्यापार सुधार कर पवित्र करें, तो गांधीजी की भाषा में जरा फेरफार करके कहा जा सकता है कि :—

"सब तरफ संतोष फैलेगा, व्यर्थ की स्पर्धा नष्ट होगी, ईर्षा जाती रहेगी; कोई भूखों न मरेगा, जन्म-मरण में सम्-तुलन रहेगा, व्याधियाँ कम होंगी और युद्ध बंद होंगे। अगर शुद्ध अहिंसा-धर्म का वास्तविक पालन होता हो, तो राजा और हाकिम प्रभुत्व या सिर-जोरी करें, वैश्य महल-मंजिल बनावें और मूल्यवान वस्त्रों तथा आभूषणों से लदे रहें और ज्ञानदाता शिक्षक तथा मेहनत करनेवाले कारीगर और मजदूर खानाबदोश होकर रोटियों के लिए मुहताज हो जायँ, ऐसी दया-जनक स्थिति नहीं होनी चाहिए।"

पर्यूषण के पवित्र दिनों में इन बातोंपर विचार करने का अनुरोध करता हूँ।

महावीर का जीवन-धर्म

१. वर्तमान प्रवृत्तियाँ :

पहले तो मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आज जैसी जयंतियाँ मनाने के पीछे रहे हुए उद्देश्य पर हमें विचार करना चाहिए। आज-कल हमें बोलने और लिखने का मानो पागलपन हो गया है। बोलने और लिखने के विविध प्रसंग हम ढूँढते ही रहते हैं। जयंतियाँ मनाना भी इसी बीमारी का एक प्रकार है। प्रायः इन प्रवृत्तियों में मुझे किसी भी तरह की गंभीर वृत्ति का अभाव लगा है। मुझे लगता है कि हम इस प्रवृत्ति का आयोजन इसलिए नहीं करते कि हम जिस महान् पुरुष की जयंती मनाते हैं उनके प्रति हमारे हृदय में कोई उमंग या प्रेम हो अथवा उन जैसे होने की तीव्र इच्छा हो, बल्कि विनोद-मनोरंजन करने की इच्छा ही मुख्य होती है। ऐसी सभाओं के निमित्त बड़े जुलूस, अच्छे-अच्छे संवाद, संगीत और व्याख्यान सुनने को मिलते हैं, दो घड़ी आनन्द में बीतती हैं, इतना ही फल प्राप्त करने की इच्छा से ऐसी प्रवृत्तियों का आयोजन होता है। इसमें एक वंचना भी होती है। सभा बुलानेवाले और सभा में आनेवाले दोनों को यह भी भास होता है कि ऐसी जयंतियाँ मनाने से हम एक महत्त्व का काम करते हैं और उस महापुरुष की योग्य कदर करते हैं।

२. जीवन गंभीर है :

यों चाहे मैं गंभीर वृत्ति का मनुष्य न भी होऊँ; लेकिन ऐसे प्रसंगों के लिए मेरी वृत्ति अत्यंत गंभीर है। जीवन को मैं अत्यंत गंभीर वस्तु समझता हूँ और महावीर-जैसे जीवन के साथी पुरुष की जयती को मैं गंभीर प्रसंगों में मानता हूँ। मैं नहीं जानता कि आप मेरी तुलना कितने अँशों में समझ सकेंगे। लेकिन गांभीर्य क्या है, यह आपको उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयत्न करूँगा। मान लीजिए कि आप बोरसद के सत्याग्रह के समय विचार कर रहे हैं अथवा बाबरा (डाकू) के बारे में विचार कर रहे हैं अथवा आपके घर में किसी का बड़ा ऑपरेशन करवाना हो और उसका आप विचार कर रहे हैं। उस समय आपके मन की वृत्ति कितनी गंभीर होती है इसका खयाल कीजिए। जैसे ये बातें जीवन के साथ जुड़ी हुई हैं वैसे ही ये महापुरुष भी अपने जीवन के साथ जुड़े हुए मालूम होना चाहिए। जैसे उपर्युक्त प्रसंगों में आपको अपने जान-माल की चिंता होगी वैसे ही इनके सम्बंध में आपको अपने जीव की लगनी चाहिए। अंतर केवल इतना ही है कि पहले प्रसंगों में कदाचित् घबराहट और खेद होगा और इसमें उनकी जगह उत्साह और साहस। मैं इस वृत्ति को गंभीर वृत्ति कहता हूँ।

३. निजी उन्नति जयन्ती का उद्देश्य :

यदि आप इस गंभीर वृत्ति से महावीर जयंती मनावें तो उससे आपको लाभ होगा। आपको अनुभव होगा कि प्रत्येक जयंती पर आप जीवन विकास के मार्ग में एक एक पैर आगे बढ़ाते

हैं। लेकिन ऐसा न हो तो ऐसी जयंतियाँ मनाने में मैं किसी तरह का लाभ नहीं देखता। यदि खयाल हो कि जयंती मनाने से श्री महावीर की किसी तरह कद्र होती है तो वह भूल है। महावीर की कद्र करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यदि आप कद्र न करें तो उससे उनके जीवन का मूल्य घट जाने और कद्र करने से वह अधिक उन्नत होने से रहा। आप निजी उन्नति के लिए महावीर की उपासना करते हैं और सिर्फ उसीके लिए आपको उनकी जयंती मनानी चाहिए। जीवन को उन्नत बनाने की आपकी उत्कंठा न हो तो जयंती मनाने से कोई हेतु पूरा नहीं होगा।

४. इसलिए मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप यदि यह जयंती मनाने की इच्छा रखते हों तो गंभीर भावसे ही मनावें। यदि आप मनोरंजन करने या अपने पंथ की वाह-वाह कराने या स्वर्ग का या इस लोक का कोई सुख प्राप्त करने की आशा रखते हों तो वह छोड़ दीजिए। और यदि वे आशाएँ न छूटें तो जयंती मनाना छोड़ दीजिए और यह मनोरंजन, वाह-वाह या पुण्य किसी दूसरे मार्ग से प्राप्त कीजिए।

५. यदि ऐसे गंभीर भाव से आपको जयंती मनानी हो तो मैं बतलाता हूँ कि मेरे विचार से वह कैसी मनायी जानी चाहिए। लेकिन इन विचारों में से जितने अनुकूल हों उतने ही आपको लेना है और जो आपके संस्कारोंके अनुकूल न हों, उन्हें छोड़ दीजिएगा।

६. जयन्ती कौन मनाएँ ? :

ऐसी जयंतियाँ केवल उपासकों, भक्तों या जिज्ञासुओंने ही एकत्रित होकर मनानी चाहिए। इसमें बड़ा समारंभ करने, बहुत से लोगों को एकत्रित करने या सब के लिए एक ही तरह का कार्यक्रम रखने की झंझट न हो।

७. अनुयायी :

हर एक पंथ में पांच तरह के अनुयायी होते हैं। उपासक, भक्त, जिज्ञासु, पंडित और सामान्य वर्ग। उपासक अर्थात् महावीर के समान अपना जीवन निर्माण करने की, महावीर के महान् गुणों को अपने जीवन में उतारने की तीव्र इच्छा रखनेवाले। भक्त यानी जिनमें महावीर के प्रति इतना प्रेम हो कि उनके लिए जो अपने जान-माल को किसी न किसी तरह उपयोग में लाने की तीव्र इच्छा रखते हों। ये स्वयं महावीर जैसे होने की अभिलाषा नहीं करते, लेकिन महावीर को अपने नाथ, मित्र, माता, पिता जैसे समझ उनके लिए कुछ करने की इच्छा रखते हैं। जिज्ञासु यानी जैन संप्रदाय के तत्त्वज्ञान को अनुभव में उतारने की इच्छावाला। पंडित अर्थात् जैन शास्त्रों का जानकार और समान्य वर्ग यानी जो जीवन में सुखी रहकर कुटुम्ब, धन व्यापार-रोजगार को जीवन के मुख्य अंग मानता है लेकिन जिसे एक ऐसी श्रद्धा है कि ये सब वस्तुएँ महावीर की दिव्य-शक्ति का आश्रय लेने से स्थिर रहती हैं और उनके पंथ में दान, पुण्य करने से यहां सुखी रह सकते हैं और दूसरा जन्म अच्छा मिलता है।

८. वास्तविक अनुयायी :

मेरे विचार के अनुसार जगत् की दृष्टि में कोई भी पंथ पंडित और सामान्य वर्ग की संख्या के आधार पर ही बहुत-कुछ जोरदार माना जाता है। लेकिन पंथ में जन्म लेकर उसका सदुपयोग करके अपनी उन्नति करनेवाले, देखा जाय तो, दिलसे उपासना करनेवाले उपासक, भक्त या जिज्ञासु ही होते हैं। पंथ का उत्कर्ष या पंथ के बाहर के सामान्य मनुष्य-समाज का उत्कर्ष इन तीनों वर्गों के अनुयायियोंसे ही होता है। यह भी होता है कि आगे जाकर यह उपासक, भक्त या जिज्ञासु अपने भाई-बन्धुओं से इतना अधिक दूर पड़ जाता है कि वे लोग उसे अपने पथ का माननेको भी तैयार नहीं होते। फिर भी पंथ का पूरा पूरा लाभ उठानेवाले तो इन तीनों वर्गों में ही होते हैं। पारसनाथ के पंथ में जन्म लेकर अपने को और सारे जैनधर्म को ऊँचा उठानेवाले महावीर स्वामी इसी बात के एक उदाहरण हैं। राजचन्द्र का उदाहरण भी कुछ-कुछ ऐसा ही कहा जायगा।

९. सत्-समागम मण्डल :

इन तीन वर्गों के अनुयायियों के लिए जयंतियाँ बराबर मनाना विशेष लाभदायक हो सकता है। ऐसी जयंतियाँ मनाने का ढंग तो यही है कि सत्-समागम के मण्डल बनाकर अपने जैसे ही उपासक, भक्त और जिज्ञासुओं के साथ एक-दूसरे की उन्नति के मार्गों पर विचार किया जाय। इनमें उपासक बैठकर महावीर के चरित्र और गुणोंका विचार करें और उनका अनुकरण करने का

मार्ग शोधें, ऐसे कर्म का विचार करें जिनसे इन गुणों का उदय हो। भक्त जमा होकर महावीर का गुणानुवाद करें, उनकी महिमा का विचार करें और उनकी मूर्ति को प्रेम से हृदय में धारण करें। जिज्ञासु ज्ञानी सद्गुरु की खोज करके उनका समागम करें और साधना करें, अथवा अनुभव की दृष्टिसे आपस में तत्त्व चर्चा करें।

१०. तीनों वर्ग अभिन्न है :

आप यह न मानें कि ये तीनों वर्ग एक दूसरे से बिलकुल अलग हैं। सबमें कुछ-कुछ अंशों में तीनों वृत्तियाँ होंगी। लेकिन अपने जीवन के अमुक काल में प्रत्येक मनुष्य विशेष कर उपासक भक्त या जिज्ञासु होता है।

११. बड़े जल्सों में लाभ नहीं :

जयंती मनाने के लिए ऐसे अनुयायियों के छोटे-छोटे मंडल बनाने में हानि नहीं, बल्कि लाभ है। बड़े भारी मजमों में वृत्तियाँ बिखर जाती हैं और बाह्य उपाधियाँ बढ़ जाती हैं। ऐसे मंडल न बहुत बड़े न बहुत छोटे, एक दूसरे के साथ मेल खावें ऐसे स्वभाव-वाले लगभग एक ही वृत्ति के मनुष्यों के हों तो बहुत लाभ होगा। मैं आपके सामने यह बात विचार के लिए रखता हूँ कि आप ऐसे बड़े जल्से और जुलूस निकालने के बदले उपासक, भक्त और जिज्ञासु बनें और ऐसी जयंतियों के प्रसंग पर छोटे सत्संगी मंडलों की रचना कर इस तरह मनावें कि आपकी शुभ वृत्तियों का उत्कर्ष हो। यदि आप गंभीर रूप से महावीर के अनुयायी हैं तो बड़े जल्सों से दूर रहने में आपका लाभ है। और यदि वह गांभीर्य न

हो तो मेरी दृष्टि से ऐसी जयंतियों का कोई मूल्य नहीं है और मुझ जैसे मनुष्यों को बुलाकर उल्टा आपका रस-भंग होने की संभावना है।

१२. अब जिस महापुरुष की आप जयंती मना रहे हैं उनके जीवन-विषयक दो-चार विचार प्रस्तुत करता हूँ।

१३. महावीर की मातृ-भक्ति :

आपका ध्यान मैं पहले महावीर की मातृ-भक्ति की ओर खींचता हूँ। महावीर के विषय में उनका जीवन-चरित्र लिखनेवालों ने कहा है कि गर्भ में हिलने-डुलने से माता को वेदना होगी इस विचार से वे हिलते-डुलते तक न थे। इस बात में कवि की अतिशयोक्ति होगी लेकिन उनके विवाह आदि प्रसंगों से साफ मालूम होता है कि उनका हृदय बाल्य-काल से ही मातृ-प्रेम और कोमल भावों से ओत-प्रोत था।

१४. पर-दुख कातरता या समभावना :

दूसरों के लिए दुखी हुए बिना और उनका दुख निवारण करने के लिए दौड़कर पहुँचे बिना चलता ही नहीं, ऐसा जिनका स्वभाव पड़ गया है ऐसे महावीर, बुद्ध, गांधी या एँड्रूज किसी भी सत्पुरुष का कौटुम्बिक जीवन देखें तो स्पष्ट मालूम होगा कि इनका बचपन ऐसे कुटुम्ब में गुजरा होगा जहाँ स्नेह ही स्नेह भरा होगा और बचपन के बाद का जीवन भी इसी तरह स्नेह से भरा होगा। उन्होंने बँटवारे के लिए कभी झगड़े नहीं किए होंगे। अपने और

भाई के बच्चों में भेद नहीं माना होगा। संकुचित वृत्ति को अपने हृदय में पोषित नहीं किया होगा। इससे उल्टे जहाँ माता-पिताओंने अपने बच्चों का लालन-पालन उन्हें खूब माल-मिठाइयाँ खिलाकर और उनके लिए खुले हाथों पैसा उड़ाकर तो किया है लेकिन हृदय के स्वाभाविक प्रेम से नहीं, जहाँ उन्हें अपने माता-पिता परायों की तरह भासित होते हैं और उनके लिए मन खोलकर हृदय की सब बातें करने का वातावरण नहीं है, जहाँ छोटे भाइयों को अपने बड़े भाइयों से बचने के लिए इस तरह प्रयत्न करने पड़ते हैं मानों वे उनके दुश्मन ही हों, जहाँ ऐसा अनुभव होता है कि सारे कुटुम्बी सिर्फ स्वार्थ के ही साथी हैं, वहाँ किसी भी तरह के ऊँचे गुणोंका पोषण नहीं होता। ऐसे कुटुम्बोंमें से पर-दुःख भंजक मनुष्य का निकलना कठिन है। कारण कि वहाँ सम-भावना की वृत्ति बहुत-कुछ कुंठित हो जाती है।

१५ प्रेम-विरोधी वैराग्य :

इस कौटुम्बिक प्रेम पर मैं आज की राष्ट्रीय सम-भावना के युग में अत्यंत आग्रह-पूर्वक जोर देता हूँ। क्योंकि मुझे दिनपर दिन अधिक से अधिक विश्वास होता जा रहा है कि हमारी हिन्दू समाज की निर्बलता का अपनी छिन्न-भिन्न स्थिति का मूल कारण हमारे कुटुम्बों में ही है। माता-पिता और पुत्र, भाई-भाई, भाई-बहन, पति-पत्नी, मित्र-मित्र, सेठ और नौकर के बीच हार्दिक प्रेम हो, यह हिन्दू कुटुम्ब की आज सामान्य स्थिति नहीं है। हमारी पोषित सारी विचार-सरणी ही इस प्रेम-वृत्ति की विरोधी है। हमने

प्रेम-वृत्ति को वैराग्य की विरोधी माना है और वैराग्य-वृत्ति उत्पन्न कर हाने से हमारे कुटुम्ब में रहते हुए भी जान में या अनजान में एक ऐसी वृत्ति का पोषण किया है कि जो वैराग्य-वृत्ति जैसी दीखने पर भी वैराग्य-वृत्ति नहीं, बल्कि प्रेम-प्रतिबन्धक वृत्ति है। इसके परिणाम स्वरूप हम विविध अनर्थकारी भावनाओं का पोषण करते हैं। हम शादी करते हैं और वह भी एक के बाद एक, फिर भी पत्नी पर प्रेम प्रकट करने में शरमाते हैं, प्रत्यक्ष प्रकट न होने देनेका प्रयत्न करते हैं और उसे दबाने के लिए पुरुषार्थ करते हैं। हमें बच्चे होते हैं, लेकिन उन्हें बचपन में प्रेम से सम्बोधित नहीं कर सकते, प्रेम से हँसा-खिला नहीं सकते, उनपर ममता प्रकट नहीं कर सकते, उनकी बातों में रस नहीं ले सकते। जब वे मौत के पंजे में आ जाते हैं तभी कहीं हम अपनी प्रेम-वृत्ति पर ढकी हुई शिला को कुछ-कुछ उठने देते हैं और जिस समय धैर्य रखना चाहिए तब धैर्य-हीन प्रेम दिखाते हैं। अपने बालकों का विवाह करने का जितना भी उत्साह किसी देश के लोगों में हो सकता है, उनकी अपेक्षा हम अधिक उत्साह से अपने बालकों का विवाह करते हैं। लेकिन उसके बाद बच्चों का कौटुम्बिक सुख या दम्पति का प्रेम-पूर्ण बर्ताव प्रसन्न मन से नहीं देख सकते। इन सब का परिणाम यह होता है कि काम-वासना की पाशविक-वृत्ति या संसार का मोह कम नहीं होता। लेकिन भावना-हीन कौटुम्बिक-जंजाल ही बढ़ता जाता है जिसमें न ऐक्य होता है, न सुख, न विकास।

१६. शुष्क ज्ञान की बातें :

हमारे मन में भी ऊँच-नीच के भेद, जात-पाँत, खेती-बाड़ी देश, जन्मभूमि आदि सब भाव हैं और सब का उपयोग करके अपना जीवन चलाते हैं। उनके बढ़ने से हम अपने आपको बड़ा मानते हैं, लोगों से लेना पाई-पाई वसूल करने में बाजार के रुख की चिन्ता करने में, सट्टा खेलने में, जाति-भोज करके वाह-वाह प्राप्त करने में, संगीत-गान का आनन्द लूटने में, साधु हो जानेपर कपड़े-लत्ते पोथी और भिक्षा एकत्र करने में किसी प्रकार का व्रत, तप या दान किया हो तो उसे जग-जाहिर करने में, दुनिया के किसी भी देश की दुनियादारी में रची-पची प्रजा के समान हम भी सावधान रहते हैं, फिर भी जब किसी ग्राम में या देश में रहते हैं उसके लिए खपने अथवा चिन्ता करने का प्रसंग आनेपर "संसार की इन झंझटों से क्या जीवन का उद्धार होता है ?" "हमारी तो आध्यात्मिक संस्कृति है ऐसी संसारी बातों से हमारा क्या प्रयोजन ?' ऐसा तत्वज्ञान पेश कर बैठते हैं। भाइयो और बहनो, मैं आपसे विश्वास तथा आग्रह-पूर्वक कहता हूँ कि यह केवल शुष्क ज्ञान है, इससे आपका किसी भी काल में उद्धार नहीं हो सकता।

१७. विवेक पूर्वक व्यवहार :

वास्तव में तो किसी भी मनुष्य के लिए विवाह करने, सन्तान पैदा करने, बच्चे को ब्याहने, धन-दौलत का संग्रह करने या ग्राम

में या शहर में रहनेका फर्ज नहीं है। लेकिन यदि उसने ऐसे सम्बन्ध किए हों, तो उन सम्बन्धों को विवेक और प्रेम से निबा-हने का फर्ज अवश्य है। विवाह किया यानी बन्धन हो गया। आपका फर्ज हो जाता है कि आप अपनी स्त्री को अपने सुख-दुख की उन्नति और अधोगति की हिस्सेदार बनाकर अपना और उसका दोनों के उद्धार का मार्ग साथ रहकर पार करें। उस स्त्री के मर जाने के बाद, आप जैसे एक पशु के मरजाने के बाद दूसरा पशु लाते हैं, वैसे दूसरी स्त्री नहीं ला सकते। यह राम के मार्ग से, महावीर के मार्ग से सब साधुपुरुषों के मार्गों से उलटा है। यह पशुता है, मनुष्यता नहीं है। उस स्त्री को आप दुत्कार नहीं सकते, मार नहीं सकते, उसका त्याग नहीं कर सकते।

१८. सन्तान के प्रति कर्तव्य :

विषयोपभोग करना आपका फर्ज नहीं है। लेकिन आप घर बसावें और बच्चे हुए कि उनका बन्धन आपको स्वीकार करना ही होगा। जैसे बकरे और मुर्गे-मुर्गी पालनेवाला उनके बच्चों के आधार पर ही उनकी कीमत करता है। वैसे ही आपके बच्चे कितने पैसे कमाकर लावेंगे इस भावना से आप उनकी ओर नहीं देख सकते। आपका फर्ज यह नहीं है कि आप उनके लिए खूब पैसा खर्च करके उनका पोषण करें या उनके लिए पैसा छोड़कर मरें, लेकिन फर्ज तो यह है कि आप उनका पोषण करें, उनकी शुभ कामनाओं को बढ़ावा दें। जिस संसार में आप लुब्ध हुए हैं उसमें लुब्ध होने की

वे इच्छा न करें, उसमें से वे आगे बढ़ना चाहें तो यह देखकर प्रसन्न हों।

१९. बच्चों के विवाह की आपपर कोई जिम्मेवारी नहीं है। लेकिन यदि आप उन्हें ब्याहें तो बहूको लड़की के समान मानने और बच्चों का सुखी संसार देख प्रसन्न होनेका फर्ज अवश्य है।

२०. सब के हित में ही आपका हित है :

आपको जरूरी दिखाई दे तो आप अपने गाँव या देश को छोड़कर चले जाइये लेकिन आप ऐसा कोई काम नहीं कर सकते जिससे अपके गाँव या देश का अहित हो, फिर आपको भले अपने जान-माल की जोखम उठाना पड़े। यदि आपके ग्राम में पानी का दुख हो और आपके कुएँ में बहुत पानी हो तो वह कुआँ गाँवको ही सौंप देना चाहिए। यदि विदेशी कपड़े के व्यापार से आपको बहुत लाभ होता हो लेकिन उससे आपके देशको नुकसान पहुँचता हो तो आपको वह व्यापार बंद कर देना चाहिए। यदि आपकी शालाएँ स्वतंत्र रखने में ही देशका हित हो तो चाहे जितना नुकसान उठाकर भी आपको ऐसा ही करना चाहिए। ग्राममें या देश में रहकर उसके प्रति कर्तव्यसे विमुख रहनेपर आप परमार्थ साधने की बिलकुल आशा न रखें। जिसे आप परमार्थ की सिद्धि मानेंगे वह परमार्थ नहीं, सिर्फ कल्पना होगी।

२१. प्रेम-रहित साधना व्यर्थ है :

वैराग्य और प्रेम ये दो विरोधी वृत्तियाँ हैं, ऐसा खयाल यदि आपका हो तो वह बिलकुल मिथ्या है, यह मैं आपको निश्चयपूर्वक

कहता हूँ। इस मान्यता ने हमारी प्रजा की उन्नति को रोक दिया है। वह शुष्क और भावना-हीन बन गई है। वह सत्य में मिथ्या और मिथ्या में सत्य देखने लगी है। इससे उल्टे मैं आपके आगे यह विचार रखता हूँ कि निःस्वार्थ और शुद्ध प्रेम के बिना किसी भी मनुष्य की उन्नति होना संभव ही नहीं। यदि आपमें विवेक और वैराग्य न हो तो सन्त-समागम से वह आ सकता है, लेकिन आपका हृदय प्रेम रहित होगा तो आपका उद्धार चौबीसों तीर्थंकर मिलकर भी नहीं कर सकेंगे। प्रेम-रहित हृदय में भगवान की भक्ति भी गहरी जड़ नहीं जमाती। और भगवान की भक्ति नहीं हो, फिर भी एक भी जीव को शुद्ध और सच्चे प्रेम से चाहने की आपमें शक्ति हो, तो आप उन्नति के मार्ग पर जा सकते हैं।

२२. महावीर प्रेम के अवतार थे :

मैंने एक भी महान् सन्त का चरित्र ऐसा नहीं देखा कि जिसमें माता-पिता, बन्धु-गुरू, मित्र-देश जन इत्यादि में से किसी के प्रति भी निःस्वार्थ प्रेम की पराकाष्ठा न हो। महावीर को ईश्वर का आलम्बन नहीं था, लेकिन उनके मन में जीव के प्रति प्रेम का प्रवाह बहता था, इसलिए वे तीर्थंकर पद पर जा सके। अजामिल को भी ईश्वर का आलम्बन शायद ही था, लेकिन वह पुत्र पर अपार स्नेह रख सकता था यह देखकर ही सन्तों ने उसके उद्धार की आशा की। यहाँ महावीर और अजामिल की तुलना नहीं करनी है। अजामिल को महावीर की योग्यता नहीं आ सकती लेकिन इसका कारण दूसरे प्रकार का पुरुषार्थ, तपश्चर्या और पूर्वजीवन की

शुद्धता है, यह स्पष्ट है। लेकिन अजामिल जैसा भी केवल निःस्वार्थ प्रेम के बल से सन्त-कृपा और इच्छा हो तो मृत्यु के पहले शान्ति का अनुभव कर सकता है। देव-भक्ति, देशानुराग, भूतदया की जड़ बाल-काल में कुटुम्ब में परिपुष्ट हुई प्रेम वृत्ति में है। यह प्रेम अधिक शुद्ध हो और विस्तृत क्षेत्र में फैले तो देव-भक्ति, देश-भक्ति भूत-दया अहिंसा में बदल जायगा।

२३. वैराग्य क्या है ?:

तब वैराग्य क्या है ? वैराग्य अर्थात् कर्तव्य का त्याग अथवा बन्धनों का जबर्दस्ती से त्याग अथवा अरुचि नहीं है। लेकिन वैराग्य यानी स्वार्थ का त्याग, सुखप्राप्ति की इच्छा का त्याग, भोग भोगने की इच्छा का त्याग है।

२४. महावीर में तीव्र प्रेम और वैराग्य था :

यदि आप महावीर स्वामी का जीवन-चरित्र देखेंगे तो उसमें तीव्र वैराग्य और तीव्र प्रेम दिखाई देगा। दूसरों के प्रति जूही की तरह कोमलता और अपने प्रति वज्र जैसी कठोरता दोनों साथ-साथ देखेंगे। और इन भावनाओं का पोषण कौटुम्बिक वातावरण से हुआ दीखेगा। जैसे इनके कुटुम्ब में माँ-बेटे के बीच प्रेम था, वैसा ही भाई-भाई के बीच भी। कहा गया है कि उनके बड़े भाई उन्हें घर में रखने के लिए ही उन्हें राजपाट सौंप देने को तैयार थे। भाई के प्रति यह कैसी प्रेम वृत्ति है ! मैं आपसे अंतःकरण से कहता हूँ कि यदि आपको अपना या अपने बालकों का अथवा दूसरे कुटुम्बी-

जनों का कल्याण साधना हो तो आप अपने कुटुम्ब का वातावरण प्रेम-युक्त करें। स्वार्थ-वृत्ति, क्षुद्र-वृत्ति से कुटुम्ब का वातावरण अशुद्ध न करें।

२५. महावीर दृढ़ निश्चयी और पुरुषार्थी थे :

बाल्य-काल से ही महावीर में दीख पड़ने वाली एक दूसरी वृत्ति थी, वह है उनका पराक्रम, पुरुषार्थ और दृढ़ निश्चय। जैन धर्म में ऐसा माना गया है कि क्षत्रिय ही तीर्थंकर पद के अधिकारी हो सकते हैं। इसका अर्थ मैं यह समझता हूं कि तीर्थंकर पद के मार्ग पर पुरुषार्थी और शूर पुरुष ही चल सकता है। यह बिलकुल सच बात है कि जहाँ पुरुषार्थ नहीं वहाँ किसी भी महान् वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। ऐहिक मार्ग या पारमार्थिक मार्ग में जो भी महान् वस्तु आपको सिद्ध करनी हो, उसके लिए शूरता और पुरुषार्थ चाहिए ही। शूरता का अर्थ है उस वस्तु के पीछे दूसरा सब कुछ कुर्बान करने की तैयारी। जीना भी उसीके लिए और मरना भी उसीके लिए। पुरुषार्थ अर्थात् उस वस्तुको सिद्ध करने के लिए रात-दिन का प्रयत्न और दूसरों की सहायता की अपेक्षा न रखना, काऊसग्ग—(कायोत्सर्ग) करके रहना, दिगंबर दशा तक अपरिग्रही हो जाना, उपसर्ग और परीषहों को सहन करना, किसी पर अवलम्बित न रहना ये सब निश्चय महावीर में समाए हुए अथक पुरुषार्थ को प्रकट करते हैं। जो गुण सांसारिक जीवन में बड़ा बनने के लिए चाहिए वे ही गुण परमार्थ सिद्ध करने के लिए भी चाहिए। इन गुणोंवाला सांसारिक पुरुष वीर कहलाता है। इन्हीं गुणों का परमार्थ में उपयोग करने से श्री वर्धमान महावीर कहलाए।

२६. निराशा और कमजोरी से मोक्ष नहीं मिलता :

मोक्ष के मार्ग पर चलने की इच्छावाला पुरुष अत्यन्त दृढ़ निश्चयी, साहसी व पुरुषार्थ में श्रद्धा रखनेवाला होना चाहिए। इस बात की साक्षी राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर इत्यादि प्रत्येक का जीवन है। उसके बदले हममें आज ऐसी मान्यता घर कर गई है कि सांसारिक कार्यों में अयोग्य साबित होनेवाले मोक्ष के अधिकारी हैं। पुरुषत्व कम हो जाय, स्त्री बदचलन निकले, व्यापार में घाटा आवे, बेटा मर जाय, लड़ाई में हार हो, राजकारण में शिथिलता आवे तब हमारे देश में मोक्ष प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न होती है। हम अपने में उत्पन्न हुई निराशा और कम हुए पुरुषार्थ को अपने वैराग्य की और मुमुक्षुता की निशानी मानते हैं। किसी में काम करने का उत्साह न रहे, उकता जाय तब ऐसा मान लेते हैं कि अब उसे संसार की वासना नहीं रही। मैंने सुना है कि बंगभंग आन्दोलन के बाद राजकारण में जब शैथिल्य आ गया था, तब अनेक राजनीतिज्ञों ने हिमालय का आश्रय लिया था। आज भी राजकारण में शैथिल्य देखकर कई युवकों को हिमालय में जाने की इच्छा करते देखा है। मैं विनय-पूर्वक लेकिन सच-सच बतलाना चाहता हूँ कि ईश्वर का मार्ग लोहे के चने चबाने जैसा है। जिनका उत्साह कम हो गया है, पुरुषत्व घट गया है, जीवन से ऊब गए हैं, ऐसे लोग मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। यह सम्भव है कि कोई किसी दूसरी वस्तु को मोक्ष समझकर सन्तोष मान ले, लेकिन उपशम का प्रत्यक्ष सुख उससे दूर है।

२७. अशक्ति नहीं, अनासक्ति ही वैराग्य है :

ऊपर वैराग्य का एक अर्थ कहा गया। दूसरी तरह समझाऊँ तो वैराग्य यानी संसार का कारोबार चलाने की अशक्ति नहीं, बल्कि शक्ति होनेपर भी उसकी निःसारता समझ उसमें रस न लेना, और किसी विशेष सार-रूप वस्तुकी इच्छा उत्पन्न होना है। जैसे आप पसारी की दूकान चलाते चलाते बम्बई का बड़ा व्यापार करने लगें और पसारी की दूकान छोड दे तो इसका कारण यह नहीं होगा कि आप में पसारी की दूकान चलाने की शक्ति नहीं रही, बल्कि यह होगा कि पसारी की दूकान करते हुए बम्बई के व्यापार में अधिक मुनाफा मालूम हुआ। वैसे ही संसार का कारोबार अच्छी तरह चलाते चलाते उसमें कितना सार है यह जानकर आत्मसुख का व्यापार करने के लिए वह छोड़ देने पर जो वैराग्य उत्पन्न होता है वह टिकनेवाला तथा आपकी और प्रजा की उन्नति करनेवाला होता है।

२८. यों महावीर के कितने ही गुण गिनाये जा सकते हैं। उन्हें गिनाते बैठूं तो रात खतम हो जायेगी। संक्षेप में इतना ही कहता हूँ कि गीता के सोलहवें अध्याय में जो जो दैवी सम्पत्तियाँ गिनाई हैं उन सम्पत्तियों को प्राप्त किए बिना धर्म के मार्ग पर चला नहीं जा सकता।

२९. अहिंसा परम धर्म है :

लेकिन महावीर के सम्बन्ध में बोलते हुए मैं अहिंसा का नाम न लूँ तो आप मुझे भूला हुआ समझेंगे। अहिंसा तो मानो

जैन धर्म का खास अंग माना गया है। अहिंसा परम धर्म है। इसे सिद्धान्त रूप में वैदिकों और बौद्धों ने भी माना है, लेकिन उसे आचरण में उतारनेवाले महावीर ही हैं, यह मान्यता है। जीव का घात न करना इस अर्थ में जैन अहिंसाधर्म को बहुत ही बारीकी में ले गए हैं। इस विषय में नहीं, लेकिन आज की स्थिति देखते हुए 'अहिंसा' शब्द बोलते हुए भी शर्म आती है।

३०. अहिंसा की विकृति :

आज हमारे मन में अहिंसा का अर्थ ऐसा हो गया है जैसे उसे रक्त से रंग दिया हो। यदि कहीं रक्त से मिलता हुआ रंग दिखाई दे तो हम उसे देख नहीं सकते। फिर वह किसी मनुष्य या प्राणी का घाव हो, मसूर की दाल हो, पके टमाटर हों या लाल नवकोल की शाक हो या तरबूज हो या गाजर हो। इस रंग को दिखाये बिना यदि हमारे बर्ताव से कोई मनुष्य पिस-पिस कर मर जाय, हम उसका सर्वस्व छीनकर उसकी हड्डी-पसली चूस लें तो भी हमें ऐसा भान नहीं होता कि हम हिंसा करते हैं। लेकिन यदि कोई गाड़ी के नीचे कुचल जावे अथवा किसी का घाव फूटे या वमन में रक्त देख लें; तो हमारी हिम्मत नहीं कि हम ग्लानि के बिना अथवा हुबक आए बिना समीप खड़े रह सकें और उसकी देखभाल कर सकें। लेकिन अहिंसा अर्थात् रक्त या रक्त से मिलते रंग की ग्लानि नहीं है, अहिंसा अर्थात् प्रेम या दया है। हिंसा यानी

क्रोध, वैर, निष्ठुरता, निर्दयता। जीव का घात न करना-कराना यह तो अहिंसा धर्म का सिर्फ एक अंग है। उसकी पूर्णता नहीं।

३१. निर्भयता :

हम अहिंसा धर्म को प्राप्त कर सकें, उसके पहले तो हमें दूसरे कई गुण प्राप्त करने चाहिए। उनमें से एक मुख्य गुण है निर्भयता। जबतक भय है तबतक अहिंसा धर्म की सिद्धि हो ही नहीं सकती। सर्प को हम मारने न दें, यह ठीक है। यह अहिंसा का एक अंग है। लेकिन हमारी अहिंसा पूर्ण तो तभी कहलावेगी कि जब हम साँप का नाम सुनते ही चौंक नहीं पड़ें और साँप की हिंसा किए बिना साँप से रक्षा करने की हममें शक्ति हो। द्वेष करने की शक्ति होनेपर भी जो प्रेम करता है, वह अहिंसक है। अहिंसा अर्थात् वैर का त्याग। डरनेवाले की अहिंसा, अहिंसा नहीं। जहाँ वैर रखने की शक्ति ही नहीं; वहाँ जो अप्रतिकार का बर्ताव होता है, वह अहिंसा नहीं है।

३२. खुशामद अहिंसा नहीं है :

द्वेष करने की, वैर रखने की शक्ति होनी चाहिये इन शब्दों का कोई अनर्थ न किया जाय। इनका अर्थ यह नहीं कि हम दूसरों के प्रति द्वेष रखने का प्रयत्न करें। हम दूसरों से भयभीत रहते हैं या निर्भय यह हमारा मन अच्छी तरह जानता है और यह भयवृत्ति

हम विवेक से और प्रसंगोपात बर्ताव से निकाल सकते हैं। किसी गोरे साहब के सामने, किसी अफसर के सामने, किसी पठान के सामने, किसी सिपाही के सामने, चोर के सामने जाते हुए हमारा मन कांप जाता हो, हमारा शरीर मानों सकुचा जाता हो, हमें रास्ता ही न सूझता हो तो यह सब भय की निशानियाँ हैं। हम उपद्रव न करें, उन्हें खुश रखें यह प्रेम या अहिंसा नहीं है। लेकिन वे हम जैसे ही मनुष्य हैं इस विचार से हम अपने में निःसंकोचता बढ़ावें, उनकी धाक हमारी मनोवृत्ति तक न पहुंचे, उनके साथ में हमें समानता मालूम हो तो हम उनके प्रति अहिंसा वृत्ति रख सकते हैं और प्रसंग आनेपर दृढ़ता और धीरज रख उसका उपयोग कर सकते हैं। इनमें किसी समय द्वेष-हिंसा होना भी संभव है। लेकिन डरपोक वृत्ति की अहिंसा की अपेक्षा यह हिंसा अच्छी है। सुना है कि कुछ दिन पहले मांडल में जो दंगा हुआ, उसमें बनिए अपने स्त्री-बच्चों को निराधार छोड़कर छिप गए। अहिंसक का बर्ताव ऐसा नहीं होता। इसलिए अहिंसा का उत्कर्ष होने के पहले हममें निर्भयता आनी चाहिए।

३१. अभयदान अहिंसा है :

अहिंसा धर्म की पराकाष्ठा पर पहुँचनेवाले महावीर स्वामी की अहिंसा इस प्रकार की थी : वे अपने में सर्प को फूल की माला की तरह उठाकर फेंक देने की, दुश्मन को पछाड़ देने की,

शक्ति रखते थे। उन्हें गरीबी का भय नहीं था, ठंड-गर्मी का भय नहीं था, विकराल तथा जहरी प्राणियों का भय नहीं था, बल्कि उन सबको भयभीत करने की शक्ति थी। किन्तु उन्होंने उन सब को अभय दान दिया। अहिंसा का दूसरा अर्थ अभयदान हो सकता है। मेरे पास धन हो तो धन का दान कर सकता हूँ, वस्त्र हो तो वस्त्र का दान कर सकता हूँ, बुद्धि हो तो बुद्धि का दान कर सकता हूँ, विद्या हो तो विद्या का दान कर सकता हूँ, वैसे ही मेरे पास अभय हो तो ही मैं अभय दान दे सकता हूँ।

३४. तप और उत्सव विरोधी बातें हैं :

बाहर से देखने पर जैन समाज की दो बातें ध्यान खींचती हैं। एक तो उनकी तपप्रियता और दूसरी जुलूस (उत्सव) प्रियता। ये दोनों विरोधी बातें हैं। जैसे ब्राह्मणधर्म की किसी भी धार्मिक क्रिया के प्रारंभ में और अन्त में स्नान होता है, वैसे ही मालूम होता है कि आप लोगों में प्रत्येक क्रिया के साथ उत्सव होता ही है। आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से उत्सव—हर प्रसिद्धि के लिए होनेवाला कर्म—विघ्न रूप है। इससे जिसके लिए उत्सव होता है उसकी अवनति होती है और उत्सव करनेवाले का कोई लाभ नहीं होता। जैसे कोई मनुष्य अनाज का खूब गोदाम भरकर रखे और उपद्रवी लोग उसे तोड़ डालें और अनाज ले तो न जायँ, लेकिन धूल में बिखेर दें; वैसे ही कोई आदमी कठिन तप करे और आप

इसका उत्सव करें अर्थात् उसे उसके तप का लाभ नहीं लेने देते, आप भी लाभ नहीं उठाते और उस तप को केवल धूल में मिला देते हैं। महावीर के जीवन-चरित्र में मेरे पढ़ने में नहीं आया कि उनकी भारी तपश्चर्या के मान में कहीं भी जुलूस निकाला गया हो। उल्टे ऐसी प्रसिद्धि से वे दूर भागते थे, ऐसी मुझ पर छाप पड़ी है। आप समझ सकेंगे कि इस पर से जुलूस में भाग लेने के रायचंद भाई के निमंत्रण को मैं क्यों नहीं स्वीकार कर सका।

३५. मेरा विश्वास :

महावीर का—सब ज्ञानी पुरुषों का—जीवन मुझे ऐसे विचारों की ओर ले जाता है। इसका अर्थ यह न करें कि मुझ में ऐसी कोई योग्यता आ गई है, लेकिन इतना विश्वास हो गया है कि कभी भी ऐसी योग्यता प्राप्त किए बिना चल नहीं सकता और साथ ही यह श्रद्धा भी है कि सन्तों के अनुग्रह से ऐसी योग्यता प्राप्त करने की मुझ में शक्ति आ जावेगी। इसीलिए इतना कहने का साहस किया है। अन्यथा ये वाक्य तो अनधिकार-पूर्ण ही माने जायेंगे।

३६. उपसंहार :

यह न माना जाय कि इसमें की हरेक वस्तु हरेक के लिए उपयोगी होगी। यह भी न मान लें कि मैंने जो कुछ कहा है वह सब सच ही है। आप पर लागू होती हों उतनी ही बातों पर

आप विचार करें। जैनों को लक्ष्य कर इसमें कुछ टीका जैसा जो कहा गया है वह जैनों को ही लागू होता है और दूसरे हिन्दुओं को नहीं, यह न मानें। ब्राह्मण-धर्मी या जैन-धर्मी हम सब एक ही मिट्टी के पुतले हैं। सब में एक ही तरह के अच्छे-बुरे गुण हैं। इससे इतना ही समझें कि आज का प्रसंग जैनों का होने से जैनों को निमित्त मानकर कहा गया है।

जिस मार्ग से महापुरुष गए, उसी मार्ग से जाने की हममें शक्ति उत्पन्न हो।